प्रकाशक—
चम्पालाल बांठिया—मन्त्री
श्रीजवाहरसाहित्यसमिति, भीनासर
(बीकानेर)

प्रति १०००	प्रथमावृत्ति	मूल्य ।।।)

तारीख १५ जनवरी १९४८.

मुद्रक—
चिम्मनसिंह लोढ़ा
श्री महावीर प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर

-: निवेदन :-

सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन का चौथा भाग पाठकों के हाथों मे पहुँच रहा है। तीसरे भाग में चौतीस बोल प्रकाशित हुये थे। इस चौथे भाग में ३५ वें बोल से ४८ वें बोल तक प्रकाशित किये जा रहे हैं।

सम्यक्त्वपराक्रम को हम चार भागों में समाप्त कर देना चाहते थे। मगर पृष्ठ कुछ बढ़ गये और इस कारण उसे पाँच भागो में प्रकाशित करना आवश्यक हो गया। आशा है, पाँचवाँ भाग भी शीघ्र ही पाठकों के समक्ष उपस्थित कर सकेंगे।

जैसा कि हम पहले भी निवेदन कर चुके है, कागज की समस्या बड़ी जटिल हो गई है। कागज दिनोंदिन दुर्लभ होता जा रहा है। इसी कारण इस भाग के प्रकाशित होने में इतना विलम्ब हो गया है। कागज जब मिला भी तो एक सा नहीं मिला और कई तरह के कागज लगवाने पर यह पुस्तक छप सकी है। निकट भविष्य में इस समस्या के हल हो जाने की कोई आशा नहीं है, ऐसी हालत में साहित्य-प्रकाशन का कार्य रोक कर प्रतीक्षा नहीं की जा सकती। इससे पुस्तक के सौन्दर्य में कमी हुई है, मगर लाचारी है। आशा है पाठक पूज्य श्री के भावों की सुन्दरता के आगे पुस्तक के रूप-रंग की कमी को भुला देंगे। इति शम्।

चम्पालाल बांठिया
मंत्री,
जवाहरसाहित्यसमिति

भीनासर
ता० २२-१२-४७.

❀ विषयानुक्रम ❀





३६

सम्यक्त्वपराक्रम-चौथा भाग

पैतीसवाँ बोल ।

आहारप्रत्याख्यान



वस्तुतः आत्मा और परमात्मा एक है। आत्मा में ज्ञान की किसी प्रकार की कमी नहीं है, परन्तु उसके ज्ञान पर आवरण आया हुआ है। वह ज्ञानावरण क्रिया के विना दूर नहीं हो सकता। इसीलिए शास्त्र मे उसे क्रिया द्वारा नष्ट करने का उपदेश दिया गया है।

चौतीसवें बोल में उपधि के त्याग के विषय में कहा जा चुका है। जो व्यक्ति उपधि या उपाधि का त्याग करता है वह अपनी शक्ति के अनुसार आहार का त्याग करता है। अतः गौतम स्वामी अब भगवान् महावीर से यह प्रश्न करते है कि आहार का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

मूलपाठ

प्रश्न—आहारपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—आहारपच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दइ, जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दित्ता जीवे आहार-मंतरेणं न संकिलिस्सइ ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! आहार का प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—आहार का त्याग करने से आत्मा जीवन की लालसा नष्ट हो जाने के कारण आहार के अभाव में खेद नहीं पाता।

व्याख्यान

यह सूत्रपाठ बहुत सारपूर्ण है। इसमें महत्त्वपूर्ण बोधपाठ मौजूद है। शास्त्र का प्रत्येक वाक्य अर्थसूचक है। यहाँ लाभ पर विचार करना है कि आहार का त्याग करने से जीव को क्या होता है ?

यह शरीर आहार पर ही टिका हुआ है। यह सही है कि शरीर को टिकाये रखने के लिए और-और वस्तुएँ भी सहायक हैं, परन्तु इनमें प्रधानता आहार की ही है। मकान या वस्त्रों के अभाव में जीवन कायम रह सकता है। अफ्रिका के एक प्रदेश के विषय में सुना जाता है कि वहाँ के निवासी वस्त्र नहीं पहनते, नग्न ही रहते हैं। जब वस्त्र ही नहीं पहने जाते तो आभूषण पहनने का प्रश्न ही

उपस्थित नहीं होता। यह बात सभी समझते हैं कि मनुष्य मकान और कपड़ों के बिना भी जीवित रह सकता है। मगर तुमने कभी सुना है कि आहार के बिना भी कोई प्राणी जीवित रह सकता है? वास्तव में जीवन कायम रखने के लिए आहार की अनिवार्य आवश्यकता है और इसी कारण प्राण की व्याख्या करते हुए अन्नमय-प्राण कहा गया है।

जब शरीर आत्मा से भिन्न है, इस प्रकार का भेदज्ञान होता है और जब वैराग्य की उत्पत्ति होती है, तब शारीरिक परतन्त्रता दूर करने के लिए और आत्मा को शरीर-बंधन से मुक्त करने के लिए धर्मात्मा पुरुष आहार का त्याग करते हैं। आहार के इस त्याग से जीव को क्या लाभ होता है, यही प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी से किया है।

आहार का त्याग करना सरल नहीं है। शरीर-आत्मा का भेदज्ञान, स्व-पर की पहिचान तथा उत्कृष्ट वैराग्य जब उत्पन्न होता है, तभी आहार का त्याग किया जा सकता है। इस प्रकार आहार का त्याग करने वाला जीवन की आशा ही त्याग देता है।

जीवन की आशा त्याग देने से होने वाला लाभ, शास्त्र में आये हुए एक कथन का उल्लेख करके समझाता हूँ। भृगु पुरोहित के दोनों पुत्रों ने अपने पिता को जीव की स्थिति बतलाते हुए कहा था—

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि,
इमं च मे किच्चमिमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं,
हरा हरंति इति कहं पमाए॥

यह मेरा है, यह मेरा नहीं है, यह काम मुझे करना है, यह काम मुझे नहीं करना है, इस प्रकार की घटना संसार में दिन-रात चलती रहती है। जीवन छोटा और काम बहुत हैं। ऐसी स्थिति में कोई भी पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार अपना काम पूरा नहीं कर सकता। आज दिन तक ऐसा नहीं हुआ कि किसी ने संसार के सब काम पूरे कर लिये हों और वह कृतकृत्य हो गया हो। ऐसा हो भी नहीं सकता। प्रत्येक जीव को यही तृष्णा लगी रहती है कि मैंने अमुक-अमुक काम तो कर लिए हैं मगर अब अमुक काम करने शेष हैं! इस तृष्णा की पूर्ति कभी होती ही नहीं। उदाहरणार्थ—कंठ के आभूषण तैयार हुए कि हाथ के आभूषणों की बात चलने लगती है। और हाथ के आभूषण भी कदाचित् तैयार हो गए तो पैरों के गहने तैयार कराने की इच्छा हो जाती है। इसी प्रकार चांदी के आभूषण हों तो सोने के और सोने के हों तो हीरा माणिक के जेवर गढ़वाने की लालसा बढ़ती ही जाती है। इस तरह संसार में तृष्णा का कहीं अन्त नहीं आता, वह तो उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। परन्तु जब आत्मा में शरीर-आत्मा का भेदविज्ञान प्रकट होता है, तब आत्मा इन सब वस्तुओं का त्याग कर देता है और तृष्णा को जीतकर संतोषामृत का पान करता है। आत्मा जब संतुष्ट बनता है तभी उसे शांति का अनुभव होता है, अन्यथा यह आत्मा तृष्णा नदी में बहता और गोते खाता हुआ दुःख उठाता है। पर भेदज्ञानी आत्मा संसार की बहुमूल्य समझी जाने वाली वस्तुओं को भी तुच्छ समझकर उनका त्याग कर देता है।

पुरोहित-पुत्र कहते हैं—पिताजी, इस प्रकार सांसारिक कार्य तो बहुत हैं और उन कार्यों के लिए हाय-हाय भी बहुत करनी पड़ती है। परन्तु जिसके आधार पर यह सब काम किये जाते हैं वह

आयुष्य भी प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है। जब आयुष्य ही क्षीण होता जाता है तो सांसारिक कार्य पूर्ण किस प्रकार होंगे ? कोई नहीं जानता, आयु कब पूर्ण हो जायगी ? महान् पुरुषों को भी पता नहीं होता कि कल क्या होने वाला है ? फिर भी संसार में प्राणीमात्र को सांसारिक कार्यों की हाय-हाय लगी रहती है। कहने का आशय यह है संसार-संबंधी लालसा बढ़ती ही चली जाती है। और जो बढ़ती ही चली जाती है, वह पूर्ण कैसे हो सकती है ? लालसा की पूर्ति तो तभी संभव है, जब उसकी मर्यादा बाँध ली जाय और उस मर्यादा के अनुसार आशा पूरी करने के लिए आयुष्य भी हो। लालसा की वृद्धि करते रहने से वह पूरी नहीं हो सकती। आशा की पूर्ति तो लालसा का त्याग करने से ही होती है। आहार का त्याग करने वाला आशा लालसा का त्याग कर देता है। वस्तुतः जो व्यक्ति आशा-लालसा का त्याग करने के लिए ही आहार का त्याग करता है, उसी व्यक्ति का आहार-त्याग उचित कहा जा सकता है।

इस प्रकार आशा का त्याग करने के लिए, जो व्यक्ति आहार का त्याग करता है, उसे आहार-त्याग करने से किस फल की प्राप्ति होती है, इस विषय में गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया है। गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—आशालता का उच्छेद करने के लिए आहार का त्याग करने वाला सर्वप्रथम तो जीवन—जीने की लालसा त्याग देता है। वह विचारता है कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार भेदविज्ञान पैदा होने से वह आहारत्याग के साथ जीवित रहने की आशा का भी त्याग कर देता है। वह अनशनव्रत स्वीकार कर लेता है।

अनशनव्रत दो प्रकार का है—इत्वरिक अनशन और यावज्जीवन अनशन। यावज्जीवन अनशन तो कोई विरला ही करता

है, परन्तु इत्वरिक अनशन का अभ्यासी पुरुष यावज्जीवन अनशन करने का साहस कर लेता है। इत्वरिक अनशन करना एक प्रकार से यावज्जीवन अनशन करने का अभ्यास करना ही है।

कुछ लोगों का कहना है—'जैन आहार का त्याग करते हैं, यह भी एक प्रकार की हिंसा है। आहार का त्याग करना या मरना दोनों बातें समान हैं। आहार के बिना शरीर टिक नहीं सकता। कड़कड़ाती भूख लगने पर अगर भोजन नहीं खाया जाता तो उस समय शरीर का रक्त-मांस खाया जाता है। इस प्रकार आहार का त्याग करना आत्महत्या करने के समान है।

गीता के एक श्लोक का अर्थ करते हुए भी कुछ लोग इसी प्रकार की मान्यता प्रकट करते हैं। मगर ऐसा कहने वाले लोग भूल करते हैं। आहार त्याग करना अथवा उपवास करना जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक है। अनेक लोग इस समय भी उपवास का महत्व समझ कर उसे प्राकृतिक औषध के रूप में स्वीकार करते हैं। उपवास करने से शरीर का रक्त-मांस नहीं खाया जाता। उपवास करने से शरीर का रक्त-मांस नहीं खाया जाता। उपवास करने से शरीर कृश अवश्य होता है, मगर उससे शरीर को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती। शरीर कृश होने से शारीरिक शक्ति का ह्रास नहीं हो जाता। आजकल वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा दूध सुखा लिया जाता है और उसका ठोस पदार्थ बना लिया जाता है। उसे पानी में मिलाने से फिर वह दूध बन जाता है। जैसे उस दूध में की शक्ति नष्ट नहीं होती उसी प्रकार उपवास करने से शरीर के कृश हो जाने पर भी उसकी शक्ति का नाश नहीं होता। इसके विपरीत यदि उपवास विधिपूर्वक किया जाय और उपवास समाप्त होने पर शीघ्र ही

आहार की वृद्धि न की जाय तो शरीर की कृशता के दूर हो जाने के साथ ही साथ शरीर के रोग भी समूल नष्ट हो जाएँगे। यह बात कपोलकल्पित नहीं, अनुभूत है। जिसे इस कथन में संदेह हो वह अपना वजन करके कम से कम एक दिन का उपवास कर देखें और दूसरे दिन फिर वजन करे। उसे विश्वास हो जायगा कि उपवास करने से किसी भी प्रकार शारीरिक शक्ति क्षीण नहीं होती।

उपवास से शरीर कृश हो जाता है और रोग से भी शरीर कृश हो जाता है। मगर दोनों प्रकार की कृशता में बहुत अन्तर है। लोग उपवास के अभ्यासी नहीं, दवा के अभ्यासी हैं और इसी कारण उन्हें उपवास करने से शरीर के निर्बल, निस्तेज और कृश हो जाने की भ्रान्ति बनी हुई है। वास्तव में उपवास तो शरीर को स्वस्थ बनाने की एक अमोघ प्राकृतिक औषध है। अगर इस प्राकृतिक औषध का महीने में छह बार सेवन किया जाय तो शरीर में किसी प्रकार का रोग ही न रहने पाए और न डाक्टर की शरण में जाना पड़े। मगर जब हम उपवास करने का उपदेश देते हैं तो तुम हमारे कथन की उपेक्षा करते हो और जब बीमार पड़ते हो और डाक्टर ६–७ दिन के लिए लंघन-उपवास करने की सलाह देता है तब इच्छा या अनिच्छा से भी तुम्हें उपवास करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। अगर प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के नियमों का बराबर पालन करे और स्वेच्छापूर्वक प्रतिमास ४–६ उपवास करने की आदत डाले तो शरीर रोगी न बने और न डाक्टर की शरण लेना पड़े।

सिर्फ शरीर को स्वस्थ रखने के उद्देश्य से किये जाने वाले उपवास परिपूर्ण नहीं कहे जा सकते। ऐसे उपवास से शारीरिक

लाभ तो होता है परन्तु सच्चा उपवास तो वही है जो आत्मा तथा परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए किया गया हो। उपवास की व्याख्या करते हुए कहा गया है—'उप समीपे वसतीति उपवासः।' अर्थात् आत्मा को परमात्मा के समीप पहुँचाने के लिए आत्मध्यान करना और आत्मचिन्तन करने के लिए आहार का त्याग करके जीने की आशा का भी त्याग कर देना ही सच्चा उपवास है। उपवास तो परमात्मा के पास पहुँचने का एक मार्ग है। इस प्रकार सच्चा उपवास करने से शरीर स्वास्थ्य का आनुषंगिक लाभ तो होगा ही, परन्तु उपवास का असली प्रयोजन-परमात्मा के निकट पहुँचना भी सिद्ध होगा। जैसे पनिहारी अपने घर के लिए घड़े में पानी भर लाती है और इस कारण वह शकुनवती भी कहलाती है, उसी प्रकार परमात्मा के शरण में जाने के लिए किये गए उपवास से आत्मिक लाभ के साथ शारीरिक लाभ भी होता है।

उपवास करने से परमात्मा के शरण में किस प्रकार जा सकते है तथा परमात्मा के शरण में जाने के लिए आत्मा को क्या करना चाहिए, इस सम्बन्ध में गीता में कहा है:—

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥

अर्थात् निराहार रहने से विषय रूपी पक्षी तो उड़ जाता है परन्तु विषयों की वासना नहीं मिटती। विषयों की जो वासना उपवास करने पर भी शेष रह जाती है, उस वासना का उच्छेद करने के लिए परमात्मा का शरण ग्रहण करना आवश्यक है। उपवास करने से विषय तो दूर हो जाते हैं परन्तु विषरूप जो वास-

ना बाकी रह जाती है वह परमात्मा के शरण में जाकर दूर की जा सकती है। तपश्चरण द्वारा विषयेच्छा भी समूल नष्ट की जा सकती है और इसी लिए बाह्य तथा आभ्यन्तर तपश्चरण किया जाता है। बाह्य तपश्चरण से विषय निवृत्त हो जाते हैं और आभ्यन्तर तप द्वारा अर्थात् परमात्मा का शरण ग्रहण करने से विषयों की वासना भी मिट जाती है और चित्त की शुद्धि भी हो जाती है।

आज के लोग दवा के ऐसे अभ्यासी बन गए हैं कि दवा के नाम पर वे अखाद्य और असेव्य पदार्थ भी खा जाते और सेवन करते हैं। इस प्रकार की भ्रष्ट दवा से बचने के लिए तथा अन्तःकरण को शुद्ध करने के लिए उपवास करना शारीरिक और आत्मिक विकास की दृष्टि से अत्यावश्यक है। तपश्चरण करने वाला भ्रष्ट दवा के सेवन से बच सकता है और अपने अन्तःकरण को भी शुद्ध कर सकता है।

कोई-कोई लोग उपवास के नाम पर खान-पान में ही मशगूल रहते हैं। कल उपवास करना है, ऐसा विचार करके कुछ लोग हलुवा आदि गरिष्ठ पदार्थों से पहले ही पेट भर लेते हैं। जैनशास्त्रों का कथन है कि उपवास की यह विधि नहीं है। धारणा और पारणा के दिन एक ही बार भोजन करने से चतुर्थभक्त उपवास होता है। अर्थात् धारणा के दिन एक बार का भोजन त्यागने से, पारणा के दिन एक बार का भोजन त्यागने से और उपवास के दिन दो बार का भोजन त्यागने से ही चतुर्थभक्त उपवास कहलाता है। खान-पान की लालसा रोककर विधिपूर्वक उपवास करने वाला अनेक गुना लाभ प्राप्त करता है।

हम तुम सब लोगों को सुख का ही मार्ग बतलाते हैं और कहते हैं कि सुख कुछ बाहर से नहीं आता। सुख कहाँ से आता है, इस सम्बन्ध में शास्त्र में कहा है-

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा॥

अर्थात्—अविवेकी लोग ही कहते हैं कि दूसरे ने हमें सुख या दुःख दिया है। ज्ञानी जनों का कहना है कि दूसरा न सुख दे सकता है और न दुःख ही दे सकता है। तुम भी शायद यही समझते हो कि दूसरों ने हमें अमुक दुःख दिया है, परन्तु अगर तुम अपना मन शान्त और पवित्र रक्खो तो कदापि नहीं कह सकोगे कि कोई दूसरा हमें सुख-दुःख देता है। मन को शान्त और पवित्र रखने से दुःख पैदा ही नहीं होता। अतएव अपना मन शान्त और पवित्र बनाने के लिए परमात्मा तथा तपश्चरण का शरण ग्रहण करो। अपना आत्मा ही सुख-दुख का कर्त्ता और हर्त्ता है, ऐसा मानने से दुःख भी सुख में परिणत हो जाता है। केतुमती ने अंजना को मातृगृह भेज दिया था और मायके वालों ने भी अपने घर न रख कर जंगल में भेज दिया था। परन्तु अंजना ने जंगल में भी यही माना कि सास ने मुझ पर कितनी बड़ी कृपा की कि मुझे जंगल में भेज दिया और मुझे जंगल में महात्मा के दर्शन का लाभ हुआ! इस प्रकार अंजना ने अपने दुःख को भी सुख रूप में परिणत कर लिया। क्या तुम भी संकट के समय शान्ति धारण करते हो? तुम अंजना का नाम स्मरण करते हो, परन्तु अंजना का नाम स्मरण किस लिए करते हो, इसका भी विचार करो और मन को शान्त तथा पवित्र रखने का प्रयत्न करो।

यहाँ (मोरबी) के दीवान साहब कहते थे कि चार महीना तक व्याख्यान सुनने के बाद भी हम लोग तो जैसे के तैसे ही रहेंगे।

क्या दीवान साहब का कथन सही है ? तुम कैसे भी रहो, इस विषय में मुझे किसी प्रकार का दुर्भाव नहीं लाना चाहिए। मुझे यह भी विचार नहीं करना चाहिए कि मैंने इतना उपदेश दिया मगर परिणाम कुछ भी न आया। मुझे तो यह विचारना चाहिए कि मैं जो कुछ करता हूँ, अपने कर्मों की निर्जरा करने के लिए ही करता हूँ। दूसरा कोई सुधरे या न सुधरे, इस झंझट मे मुझे नहीं पड़ना चाहिए। इस प्रकार विचार कर मुझे तो ऐसा ही प्रयत्न करना है कि मेरी आत्मा को सुख-शान्ति मिले। शास्त्र मे दो प्रकार के निमित्त कारण बतलाये हैं—पुष्ट और अपुष्ट। जो निमित्त कारण केवल संबध जोड़ते हैं वे पुष्ट कहलाते हैं और जो सम्बन्ध जोड़ते भी हैं और तोड़ते भी हैं, वे अपुष्ट निमित्तकारण कहलाते हैं। पुष्ट निमित्त कारण संबंध जोडता है, तोड़ता नहीं है। जैसे फूल तेल को फुलेल तो बना देता है मगर उसके चिकनेपन को नष्ट नहीं करता। अतः तेल फुलेल होने पर भी पहले की भाँति जल सकता है। अपुष्ट कारण चाक को घुमाने वाले डंडे के समान होता है। वह घड़ा बनाता भी है और घडे को नष्ट भी कर सकता है।

साधु दूसरों के दिल को जोड़ने वाला होना चाहिए, तोड़ने वाला नहीं। अर्थात साधु को किसी का दिल नहीं दुखाना चाहिए। साधु दूसरे का सुधार भले चाहे, मगर उसका दिल दुखाकर नहीं, त्यागधर्म का उपदेश देकर, उसे समझा-बुझाकर उसके जीवनसुधार का प्रयत्न करना चाहिए। साधु जो कुछ करे, कर्म की निर्जरा के लिए करे। इसी में स्व-पर का लाभ है। त्याग एक ऐसी वस्तु है कि जिससे हानि होने का कुछ भी भय नहीं है। त्याग से कल्याण ही होता है। त्यागमार्ग कल्याण का मार्ग है।

छत्तीसवाँ बोल ।

कषायप्रत्याख्यान



शास्त्र कहता है—आत्मन् ! तुझमें अनन्त सामर्थ्य विद्यमान है। तू उसका उपयोग नहीं करता, यह तेरी भूल है। तू अपने शक्ति-सामर्थ्य को काम में ले। आत्मा के सामर्थ्य को विकसित करने के लिए त्याग करने की आवश्यकता रहती है। त्याग के विषय में ही यहाँ विचार चल रहा है। गौतम स्वामी अब कषाय के त्याग के विषय में प्रश्न करते हैं—

मूलपाठ

प्रश्न—कसायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ, वीयरागभावपडिवन्ने वि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ॥३६॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! कषाय का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—कषाय के त्याग से वीतराग उत्पन्न होता है और वीतराग भाव को प्राप्त जीव के लिए दुःख और सुख समान बन जाते हैं।

व्याख्यान

कषाय-त्याग के विषय में विचार करने से पहले यह विचारणीय है कि आहारप्रत्याख्यान के बाद कषायप्रत्याख्यान के विषय में प्रश्न क्यों किया गया है ? आहारप्रत्याख्यान के साथ कषायप्रत्याख्यान का क्या सम्बन्ध है ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं कि संभोगप्रत्याख्यान, उपधिप्रत्याख्यान और आहारप्रत्याख्यान तभी सफल होते हैं, जब कषाय का त्याग कर दिया जाय। कषाय का त्याग किये बिना ऊपर के सभी त्याग सफल सिद्ध नहीं होते। संभोग, उपधि और आहार आदि का त्याग भी कषाय का त्याग करने के उद्देश्य से ही किया जाता है।

संभोग में रहने से किसी को कुछ कहने और सुनने का प्रसंग आ जाता है। इससे बचने के लिए संभोग का त्याग किया जाता है। उपधि रखने से सदैव यह भय बना रहता है कि कोई उसे ले न जाय, इस भय से मुक्त होने के लिए उपधित्याग किया जाता है। आहार के लिए अनेक प्रकार के क्रूर कर्म भी करने पडते हैं और अनेक प्रकार की उपाधियाँ भी वहोरनी पड़ती हैं। इनसे छुटकारा पाने के लिए आहार का त्याग किया जाता है। परन्तु जब तक कषाय का त्याग नहीं किया जाता तब तक यह सब त्याग निष्फल है अथवा अल्प फलदायी ही सिद्ध होता है।

कषाय का त्याग करने पर भी अगर संभोग, उपधि और आहार आदि का त्याग सफल होता तो कुटुम्बक्लेश के कारण घर का त्याग कर देने वाले लोग भी संभोग के त्यागी कहलाते। इसी प्रकार बहुत से लोगों के पास किसी प्रकार की उपधि नहीं होती तो क्या वे उपधि के त्यागी माने जा सकते हैं ? क्या उन्हें

साधुओं की श्रेणी में रखकर वंदन-नमस्कार किया जा सकता है ? नहीं। पशु निरुपधि होने पर भी उपधि के त्यागी नहीं कहलाते हैं, क्योंकि उन्होंने ज्ञानपूर्वक उपधि का त्याग नहीं किया है। इसी प्रकार दुष्काल के समय बहुत से लोग अन्न के अभाव में मर जाते हैं। क्या उन्हें आहार का त्यागी कहा जा सकता है ? नहीं। क्योंकि उनके पास आहार नहीं है और उन्हें अनिच्छापूर्वक आहार का त्याग करना पड़ता है। अगर उन्हें आहार उपलब्ध होता तो वे स्वेच्छापूर्वक उसका त्याग करने के लिए तैयार नहीं थे। कहने का आशय यह है कि संभोग, उपधि और आहार आदि का त्याग कषाय का त्याग करने के लिए ही किया जाता है। कषाय के त्यागी बने बिना संभोग, उपधि और आहार आदि का त्याग सफल नहीं हो सकता।

कषाय का त्याग करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है कि कषाय का त्याग करने से संभोग, उपधि और आहार का त्याग सफल होता है तथा जीवन में वीतरागभावना उत्पन्न होती है।

कषाय के त्याग से किस प्रकार वीतरागभावना उत्पन्न होती है, इस विषय पर विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि कषाय क्या है और किसलिए उसका त्याग किया जाता है ?

जिससे संसार की वृद्धि होती है वह कषाय है। अर्थात् राग और द्वेष, जो कर्मबीज हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ, जो संसारवृद्धि के कारण हैं, उन्हें कषाय कहते हैं। जिन मलीन परिणामों द्वारा नरक आदि की प्राप्ति या वृद्धि होती है, वह मलीन

परिणाम भी कषाय है। संक्षेप में, जिस चित्तवृत्ति द्वारा संसार की वृद्धि हो वह कषाय है।

शास्त्रकारों ने कषाय का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—

कोहो य माणो य अनिग्गहीया,
माया य लोहो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥

अर्थात्—पुनर्जन्म की जड़ को सींचने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार कषाय हैं। क्रोध और मान का निग्रह करना कठिन है और माया तथा लोभवृत्ति बढ़ती जाने वाली है अर्थात् माया तथा लोभ का कहीं अन्त नहीं है। यह हमेशा बढ़ते ही चले जाते है। यह कषाय संसारवृद्धि करने वाले हैं, अतः त्याज्य ही है।

कषाय की वृद्धि होने के कारण नरक आदि नीच गतियो मे तथा ससारचक्र में परिभ्रमण करना पड़ता है। कषाय जीवात्मा को कर्मबंधन से विशेष बद्ध करती है। कषाय के कारण कर्मबंधन से छुटकारा नहीं मिलता। राग-द्वेष से कर्म का बंध होता है और कषाय से कर्मबधन मज़बूत होता है। संसार-चक्र में से छूटने के लिए, पुनर्भव के फदे से मुक्त होने के लिए, तथा कर्मबंधन को ढीला करने के लिए कषाय का त्याग करना आवश्यक है।

कषाय की तीव्रता के कारण ही नरक आदि नीच गतियों में जाना पड़ता है। नरक कहीं बाहर से नहीं आता। वह तो अपने ही परिणामों में है। कितने ही लोग दुःख माथे पर आ जाने के

साधुओं की श्रेणी में रखकर वंदन-नमस्कार किया जा सकता है ? नहीं। पशु निरुपधि होने पर भी उपधि के त्यागी नहीं कहलाते हैं. क्योंकि उन्होंने ज्ञानपूर्वक उपधि का त्याग नहीं किया है। इसी प्रकार दुष्काल के समय बहुत से लोग अन्न के अभाव में मर जाते हैं। क्या उन्हें आहार का त्यागी कहा जा सकता है ? नहीं। क्योंकि उनके पास आहार नहीं है और उन्हें अनिच्छापूर्वक आहार का त्याग करना पड़ता है। अगर उन्हें आहार उपलब्ध होता तो वे स्वेच्छापूर्वक उसका त्याग करने के लिए तैयार नहीं थे। कहने का आशय यह है कि संभोग, उपधि और आहार आदि का त्याग कषाय का त्याग करने के लिए ही किया जाता है। कषाय के त्यागी बने बिना संभोग, उपधि और आहार आदि का त्याग सफल नहीं हो सकता।

कषाय का त्याग करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है कि कषाय का त्याग करने से संभोग, उपधि और आहार का त्याग सफल होता है तथा जीवन में वीतरागभावना उत्पन्न होती है।

कषाय के त्याग से किस प्रकार वीतरागभावना उत्पन्न होती है, इस विषय पर विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि कषाय क्या है और किसलिए उसका त्याग किया जाता है ?

जिससे संसार की वृद्धि होती है वह कषाय है। अर्थात् राग और द्वेष, जो कर्मबीज हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ, जो संसारवृद्धि के कारण हैं, उन्हें कषाय कहते हैं। जिन मलीन परिणामों द्वारा नरक आदि की प्राप्ति या वृद्धि होती है, वह मलीन

परिणाम भी कषाय है। संक्षेप में, जिस चित्तवृत्ति द्वारा संसार की वृद्धि हो वह कषाय है।

शास्त्रकारों ने कषाय का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—

कोहो य माणो य अनिग्गहीया,
माया य लोहो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥

अर्थात्—पुनर्जन्म की जड़ को सींचने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार कषाय हैं। क्रोध और मान का निग्रह करना कठिन है और माया तथा लोभवृत्ति बढ़ती जाने वाली है अर्थात् माया तथा लोभ का कहीं अन्त नहीं है। यह हमेशा बढ़ते ही चले जाते हैं। यह कषाय संसारवृद्धि करने वाले है, अतः त्याज्य ही है।

कषाय की वृद्धि होने के कारण नरक आदि नीच गतियों में तथा संसारचक्र में परिभ्रमण करना पड़ता है। कषाय जीवात्मा को कर्मबंधन से विशेष बद्ध करती है। कषाय के कारण कर्मबंधन से छुटकारा नहीं मिलता। राग-द्वेष से कर्म का बंध होता है और कषाय से कर्मबंधन मज़बूत होता है। संसार-चक्र में से छूटने के लिए, पुनर्भव के फंदे से मुक्त होने के लिए, तथा कर्मबंधन को ढीला करने के लिए कषाय का त्याग करना आवश्यक है।

कषाय की तीव्रता के कारण ही नरक आदि नीच गतियों में जाना पड़ता है। नरक कहीं बाहर से नहीं आता। वह तो अपने ही परिणामों में है। कितने ही लोग दुःख माथे पर आ जाने के

समय हाय-तोबा मचाने लगते हैं। वे यह नहीं सोचते कि दुःख कहाँ से और कैसे आया है? दुःख न बाहर से आते हैं और न आये ही हैं। वे तो अपने ही मलीन परिणामों की उपज हैं। मलीन परिणामों का त्याग करना संसार पर विजय प्राप्त करने का मार्ग है। साथ ही मलीन परिणामों के अधीन होना संसार के अधीन होने के समान है। अतएव जल्दी से जल्दी कषाय का त्याग करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपने हृदय में यह बात अंकित कर रखनी चाहिए कि—'कषाय की बदौलत ही हमारा स्वाधीन आत्मा पराधीनता में पड़ा है। आत्मा को स्वाधीन बनाने के कषायशत्रु पर विजय प्राप्त करना चाहिए।'

जो स्थान और कारण कषाय उत्पन्न करने वाला है वही स्थान और कारण कषाय को जीतने वाला भी है। यह बात स्पष्ट करने के लिए श्री उत्तराध्ययनसूत्र में आया हुआ एक उदाहरण तुम्हें सुनाता हूँ।

एक बार एक क्षत्रिय ने दूसरे क्षत्रिय को जान से मार डाला। मृत क्षत्रिय की पत्नी उस समय गर्भवती थी। वह क्षत्रिय-पत्नी विचार करने लगी—मेरे पति में थोड़ी बहुत कायरता थी, तभी तो उनकी अकालमृत्यु हुई। वे वीर होते तो अकाल में मृत्यु न होती। क्षत्रियपत्नी की इस वीर भावना का प्रभाव उसके गर्भस्थ पुत्र पर पड़ा। आगे चल कर वह पुत्र वीर क्षत्रिय बना।

माता अपने बालक को जैसा चाहे वैसा बना सकती है। माता चाहे तो अपने पुत्र को वीर भी बना सकती है और चाहे तो कायर भी बना सकती है। साधारणतया सिंह का बालक सिंह ही बन सकता है और सूअर का बालक सूअर ही बनता है। उनमें किसी

प्रकार का परिवर्त्तन नहीं होता परन्तु मनुष्य को इच्छानुसार वीर या कायर बनाया जा सकता है।

क्षत्रियपत्नी ने अपने बालक को वीरोचित शिक्षा देकर वीर क्षत्रिय बनाया। क्षत्रियपुत्र वीर होने के कारण राजा का कृपापात्र बन गया।

एक दिन राजा ने क्षत्रियपुत्र की वीरता की परीक्षा लेने का विचार किया। राजा ने सोचा—शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए क्षत्रियपुत्र को भेजने से एक पंथ दो काज होंगे। एक तो शत्रु वश में आ जायगा, दूसरे क्षत्रियपुत्र की वीरता की परीक्षा भी हो जायगी।

इस प्रकार विचार कर राजा ने क्षत्रियपुत्र को शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए सेना के साथ भेज दिया। क्षत्रियपुत्र वीर था। वह तैयार होकर शत्रु को जीतने के लिए रवाना हुआ। उसने शत्रु की सेना को अपनी वीरता का परिचय दिया, परास्त किया और शत्रु राजा को जीवित ही कैद करके राजा के सामने उपस्थित किया। राजा क्षत्रियपुत्र का पराक्रम देख बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने उचित पुरस्कार देकर उसका सत्कार किया। सारे गाँव में क्षत्रियपुत्र की वीरता की प्रशंसा होने लगी। जनता ने भी उसका सन्मान किया। क्षत्रियपुत्र प्रसन्न होता हुआ अपने घर जाने के लिए निकला। रास्ते में वह विचार करने लगा—आज मेरी माता मेरी पराक्रमगाथा सुनकर अवश्य प्रसन्न होगी। घर पहुँचते ही वह सीधा माता को प्रणाम करने और उसका आशीर्वाद लेने गया। पर जब वह माता के पास पहुँचा तो उसने देखा—माता रुष्ट है और पीठ देकर बैठी है! माता को रुष्ट और क्रुद्ध देखकर पुत्र

विचार करने लगा—मुझसे ऐसा कौन-सा अपराध बन गया है कि माता रुष्ट और क्रुद्ध हुई है ?

आजकल का पुत्र होता तो माता को मनचाहा सुना देता। परन्तु उस क्षत्रियपुत्र को तो पहले से ही वीरोचित शिक्षा दी गई थी कि:—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।

अर्थात्—माता देवतुल्य है, पिता देवतुल्य है और आचार्य देवतुल्य है। अतएव माता, पिता और आचार्य की आज्ञा की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए।

यह सुशिक्षा मिलने के कारण क्षत्रियपुत्र ने नम्रतापूर्वक माता से कहा—माँ, मुझ से ऐसा क्या अपराध बन गया है कि आप मुझ पर इतनी क्रुद्ध हैं ? मेरा अपराध मुझे बताइए, जिससे मैं उसके लिए आपसे क्षमायाचना कर सकूं।

माता बोली—जिसका पितृहन्ता शत्रु मौजूद है उसने यदि दूसरे शत्रु को जीता भी तो इससे क्या हुआ ?

क्षत्रियपुत्र ने चकित होकर पूछा—क्या मेरे पिता का घात करने वाला शत्रु अभी तक जीवित है ?

माता—हाँ, वह अभी तक जीवित है ?

क्षत्रियपुत्र—ऐसा है तो अभी तक मुझे बताया क्यों नहीं ?

माता—मैं तुम्हारे पराक्रम की जाँच कर रही थी। अब मुझे विश्वास हो गया कि तू वीरपुत्र है। जब तू दूसरे शत्रु को परास्त कर चुका है तब अपने पिता का घात करने वाले शत्रु को

भी अवश्य परास्त कर सकेगा। तेरा सामर्थ्य देखे विना शत्रु के साथ भिड जाने की बात मैं कैसे कहती ?

क्षत्रियपुत्र माता का कथन सुन और उत्तेजित हो कहने लगा—माताजी ! मैं अभी शत्रु को पराजित करने जाता हूँ। अपने पिता के वैर का बदला लिये विना मैं हर्गिज़ नहीं लौटूँगा। इतना कह कर वह चल दिया।

दूसरी ओर क्षत्रियपुत्र के पिता की हत्या करने वाले क्षत्रिय ने सुना—जिसे मैंने मार डाला था, उसका वीर क्षत्रियपुत्र क्रुद्ध होकर अपने पिता का वैर भँजाने के लिए, मेरे साथ लड़ाई करने आ रहा है। यह सुनकर उस क्षत्रिय ने विचार किया—वह वीर बड़ा वीर है और उसके शरण में चला जाना ही हितकर है। इसी में मेरा कल्याण है। इस तरह विचार करके वह क्षत्रियपुत्र के सामने गया और उसके अधीन हो गया। क्षत्रियपुत्र उस पितृघातक शत्रु को लेकर अपनी माता के पास आया। उसने माता से कहा—इसी क्षत्रिय ने मेरे पिता की हत्या की है। इसे पकड़ कर तुम्हारे पास ले आया हूँ। अब जो तुम कहो वही दंड इसे दिया जाय।

माता ने अपने पुत्र से कहा—इसी से पूछ देख कि इसके अपराध का इसे क्या दंड मिलना चाहिए ?

पुत्र ने शत्रु से पूछा—बोलो अपने पिता के वैर का तुमसे किस प्रकार लिया जाय ?

शत्रु ने उत्तर दिया—तुम अपने पिता के वैर का बदला उसी प्रकार लो, जिस प्रकार शरण में आये हुए मनुष्य से लिया जाता है।

क्षत्रियपुत्र की माता सच्ची क्षत्रियाणी थी। उसका हृदय तुच्छ नहीं, विशाल था। माता ने पुत्र से कहा—बेटा, अब इसे शत्रु नहीं; भाई समझ।

जब वह शरण में आ गया है, तो शरणागत से बदला लेना सर्वथा अनुचित है। शरण में आया हुआ कितना ही बड़ा अपराधी क्यों न हो, फिर भी भाई के समान ही है। अतएव यह तेरा शत्रु नहीं, भाई के समान ही है। मैं अभी भोजन बनाती हूँ। तुम दोनों भाई साथ बैठ कर आनन्दपूर्वक जीमो। तुम सगे भाइयों की तरह साथ-साथ जीमो और प्रेमपूर्वक रहो। मैं यही देखना चाहती हूँ।

माता का कथन सुनकर पुत्र ने कहा—माताजी! तुम पितृघातक शत्रु को भी भाई बनाने की कहती हो, सो तो ठीक है, परन्तु मेरे हृदय में जो क्रोधाग्नि जल रही है, उसे मैं किस प्रकार शान्त करूँ?

माता ने उत्तर दिया—पुत्र! किसी मनुष्य पर क्रोध उतार कर क्रोध शान्त करने में कोई वीरता नहीं है। क्रोध पर ही क्रोध उतार कर क्रोध-शान्त करना अथवा क्रोध पर विजय प्राप्त करना ही सच्ची वीरता है। भगवान् महावीर ने तो कहा है—'उवसमेण हणे कोहं।' अर्थात उपशम—शान्ति से क्रोध को जीतना चाहिए। इसी प्रकार बौद्धशास्त्र में भी कहा है:—

न हि वेरेण वेराणि समन्तीध कुदाचन।
अवेरेण वेराणि एस धम्मो सनन्तनो॥

अर्थात्—इस संसार में वैर से वैर कदापि शान्त नहीं होता। अवैर-प्रेम से ही वैर शान्त होता है। प्रेम से वैर शान्त करना ही सनातन धर्म है।

असली खूबी तो शान्ति-क्षमा से क्रोध को शान्त करने में ही है। क्रोध भयंकर शत्रु है। इस शत्रु को क्षमा से जीतना ही सच्ची वीरता है। नमीराज ने भी इन्द्र से कहा था—

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगे जिणेज्ज अप्पाणं एस सो परमो जयो॥

उत्तराध्ययन, ९

तात्पर्य यह है कि जो पुरुष क्रोध को अक्रोध से जीतता है, वही सच्चा वीर है। इसी प्रकार जो कषाय पर विजय प्राप्त करता है, वही सच्चा वीर है। कषायों पर विजय प्राप्त करने में ही वीरता है।

माता का आदेश पा कर पुत्र ने प्रसन्नतापूर्वक अपने पितृ-हन्ता शत्रु को गले लगाया। दोनों ने सगे भाइयों की तरह साथ-साथ भोजन किया।

कहने का आशय यह है कि जो स्थान कषाय उत्पन्न करने का है, वही स्थान कषाय जीतने का भी है। वे वास्तव में वीर पुरुष हैं जो अपने शत्रुओं को भी मित्र बना लेते हैं। सच्ची वीरता तो इसी में है कि क्रोध को अक्रोध-शान्ति-क्षमा से जीता जाय और शत्रुओं को भी मित्र बना लिया जाय। शत्रुता जब मित्रता के रूप में परिणत हो जाती होगी तब कैसा अनिर्वचनीय आनन्द आता होगा!

यह तो शास्त्र की बात हुई। इतिहास में भी ऐसे उल्लेख देखने जानने को मिलते हैं। उदयपुर के पृथ्वीराजजी और उनके काका सूरजमलजी दिन भर एक दूसरे के साथ युद्ध करते थे और शाम के समय दोनों एक साथ बैठ कर भोजन करते थे और फिर युद्ध के लगे हुए एक दूसरे के घावों पर पट्टी बाँधते थे। परन्तु आजकल तो लोगों के मन इतने अधिक संकुचित तथा मलीन हो गये हैं कि साधारण-सी बात में भी क्लेश करने लगते हैं।

कषाय को जीतने का सरल मार्ग यह है कि वैरी को भी अपना हितैषी समझ लिया जाय! शत्रु भी मित्र की भाँति हमारा उपकार करता है, ऐसा समझकर उसके प्रति सद्भाव प्रकट करने चाहिए। पैर में चुभे हुए काँटे को निकालने के लिए सुई चुभोनी पड़ती है या डाक्टर ऑपरेशन करता है तो क्या उन पर नाराजगी प्रकट करना चाहिए? नहीं। लोग यही मानते हैं कि डाक्टर हमारा हित करता है। जिस प्रकार डाक्टर पीड़ा पहुँचाने पर भी हितैषी माना जाता है उसी प्रकार तुम्हारा वैरी भी तुम्हारा हित करता है। ऐसा मानो और उसके प्रति वैरभाव न रक्खो तो तुम अवश्य ही कषाय को जीत सकोगे। कषाय को जीतने से आत्मकल्याण होगा।

कषाय को जीतने से क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने स्पष्ट ही कहा है—कषाय को जीतने से जीवात्मा वीतरागभाव प्राप्त करता है। अतएव जो जितने अंश में कषाय को जीतता है वह उतने ही अंश में वीतरागभाव उत्पन्न करता है। हाँ, यह स्मरण रखना चाहिए कि विवेकपूर्वक कषाय को जीतने से ही फल की प्राप्ति होती है। कषाय जीतने के बहाने जीवन में कायरता न आ जाए, इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए। कायर

कषाय को नहीं जीत सकता। 'कमजोर गुस्सा बहुत' लोकोक्ति तो प्रसिद्ध ही है। शक्ति होने पर भी क्षमा धारण करने में ही वीरता है। शक्तिहीन क्षमा कायरता का रूप धारण कर लेती है। इसीलिए कहा गया है—'दाणं दरिद्दस्स खमा पभुस्स।' अर्थात् दरिद्रावस्था में दिया गया दान और प्रभुता होने पर की गई क्षमा विशेष महत्वपूर्ण है। अशक्ति के कारण क्रोध को दबा रखना और मन ही मन दुर्भाव रखना तथा खोटे संकल्प विकल्प करना कषाय जीतन का सच्चा मार्ग नहीं है।

कितने ही लोग कषाय को न जीतने पर भी कह देते हैं कि हमने कषाय जीत ली है और हमारे भीतर वीतरागभाव विद्यमान है। ऐसा कहने वालों की परीक्षा करने की, शास्त्र में एक युक्ति बतलाई है। वह युक्ति यह है कि जिन्होंने कषाय पर विजय प्राप्त कर ली होती है, उनके लिए सुख और दुःख एक सरीखे हो जाते हैं। कषायविजयी का धर्म बतलाते हुए मृगा माता ने मृगापुत्र से कहा था:—

लाभालाभं सुहं दुक्खं जीवियं मरणं तहा।
समं निंदापससासु तहा माणावमाणओ॥

अर्थात्—लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, तथा मान-अपमान वगैरह में जो समभाव रखता है, वही सच्चा कषाय-विजयी मुनि है।

जिस प्रकार साधुओं को समानभाव रखने का उपदेश दिया गया है, उसी प्रकार श्रमणोपासकों को भी यह उपदेश जीवन में उतारना है।

कहने का आशय यह है कि श्रमणोपासकों को भी श्रमणों के समान सुख और दुःख में, लाभ और अलाभ में तथा निन्दा और प्रशंसा में समभाव-समानवृत्ति रखने का अभ्यास करना चाहिए। समानवृत्ति कषाय-विजय की चाबी है। सामायिक आदि छह आवश्यक भी कषाय पर विजय प्राप्त करने के लिए ही प्रतिदिन किये जाते हैं। तुम श्रमणोपासक हो अर्थात् समभाव के उपासक हो। अतएव समानभाव का अभ्यास करो और कषाय जीतने का प्रयत्न करो। इसी में तुम्हारा कल्याण है।

कषाय को जीतने से वीतरागभाव प्रकट होता है। वीतराग-मार्ग जिन भगवान् का मार्ग है। जैन का अर्थ भी 'विजेता' होता है। रागद्वेष और कषाय पर विजय प्राप्त करने वाला ही सच्चा जैन है और वही वीतराग के मार्ग पर चलने वाला है। जो नाम से जैन है उसे काम से भी जैन बनना चाहिए। जिस मनुष्य के जीवन में सच्चा जैनत्व प्रकट होता है, वह अपने कषाययुक्त जीवन को निष्कषाय बना लेता है और अन्त में सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होता है। कषायों पर विजय प्राप्त करने में सच्चा जैनत्व छिपा है। यह जैनत्व ही जैन-जीवन है और जैन-जीवन जीने मे ही कल्याण है।

सैंतीसवाँ बोल ।

योगप्रत्याख्यान

जीवात्मा के गुणों का विकास क्रमपूर्वक होता है, शास्त्र का वर्णन भी क्रमपूर्वक है। जब आत्मा अपने गुणो का विकास करके तेरहवें गुणस्थान तक पहुँच जाता है, तब आत्मा मे कषाय नहीं रहता किन्तु योग बना रहता है। ईर्यापथिकी क्रिया तेरहवे गुणस्थान मे भी होती है, यद्यपि वह सूक्ष्म होती है। जो योग तेरहवे गुणस्थान मे भी रहता है, वह क्या है? और उस योग का त्याग करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है? इस सम्बन्ध मे गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं:—

मूलपाठ

प्रश्न—जोगपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ, अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥३७॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! योग का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—योग (मन वचन और काय के व्यापार) का त्याग करने से जीव अयोगी (मन, वचन, काय के व्यापार से रहित) होता है, और ऐसा अयोगी जीव नवीन कर्मों का बंध नहीं करता और पहले बाँधे हुए कर्मों को सर्वथा दूर कर देता है।

व्याख्यान

इस सारगर्भित सूत्र पर विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि जीव और कर्म का आपस में क्या सम्बन्ध है ? और इस सम्बन्ध का विच्छेद करके जीव किस प्रकार निष्कर्म बन सकता है ? योग कर्मबंध का प्रधान कारण है अतः यह विचार कर लेना आवश्यक है।

कुछ लोगों का कहना है कि जब जीव और कर्म का संबंध अनादि काल से है तो फिर जीव कर्मबंधन से किस प्रकार विमुक्त हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कर्म अनादि काल से नहीं हैं। कर्म बदलते रहते हैं, अतः कर्मों का धारावाहिक प्रवाह ही अनादिकाल से चला आ रहा है। जैसे नदी का धारा-प्रवाह चल रहा है। इस जलधारा में पानी बद्ध होकर नहीं रहता, बदलता रहता है। फिर भी तर-ऊपर पानी आता जाता रहने के कारण धारा-प्रवाह भंग नहीं होता। इसी प्रकार कर्म भी जाते आते रहते हैं, फिर भी कर्मों का प्रवाह भंग नहीं होता, और इसी कारण कर्म अनादिकालीन कहलाते हैं। परन्तु

वास्तव मे कोई भी एक कर्म अनादिकालीन नही होता। कर्मों के इस चलते हुए प्रवाह को अगर रोक दिया जाय तो कर्मों का आगमन रुक जाता है। जैसे ऊपर से आने वाले नदी के पानी को रोक दिया जाय तो नदी का धाराप्रवाह बन्द हो जाता है, उसी प्रकार यदि आते हुए कर्मों को रोक दिया जाय तो कर्मों का धारावाहिक प्रवाह भी बन्द हो जाता है और कर्म क्षीण भी हो जाते हैं। इस प्रकार कर्मों के आस्रव को बन्द करने से कर्मो का धाराप्रवाह भी बन्द हो जाता है और कर्मों का अन्त हो जाने से जीवात्मा कर्म-रहित बन जाता है।

शास्त्र कहते हैं—आते कर्मप्रवाह को रोक देने से जीव कर्मरहित बन जाता है। जीवात्मा को कर्मरहित बनाने के लिए पहले सम्यक्त्व द्वारा मिथ्यात्व को रोकने की आवश्यकता है, अव्रत को व्रत प्रत्याख्यान द्वारा रोकने की आवश्यकता है। इसी प्रकार प्रमाद को अप्रमाद से तथा कषायों को क्षमा आदि से रोक देना आवश्यक है। कषायों को रोक दिया जाय तो सिर्फ योग ही शेष रह जाता है। इस योग का निरोध करने से जीव कर्मरहित बन जाता है।

आज तात्त्विकज्ञान की बहुत ही कमी दिखाई देती है। मगर जीवन मे तात्त्विकज्ञान की खास आवश्यकता है। आज बहुत-से लोगों को तो चौदह गुणस्थानों के नाम तक नहीं आते। किन्तु जीव और कर्म का सम्बन्ध जानने के लिए तथा जीव को कर्मबंधन से मुक्त करने के लिए तत्त्वज्ञान की और उस तत्त्वज्ञान को जीवन मे सक्रिय रूप देने की अत्यन्त आवश्यकता है।

जीव को कर्मरहित बनाने के लिए कषाय का सर्वथा क्षय करना आवश्यक है। परन्तु कषाय का सर्वथा क्षय तो बारहवें गुणस्थान में होता है और उसके बाद जीवात्मा तेरहवें गुणस्थान में जाता है। बारहवें गुणस्थान की स्थिति अन्तमुहूर्त की है और तेरहवें गुणस्थान की स्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त्त की और उत्कृष्ट कुछ कम करोड़ पूर्व की है। इस तेरहवें गुणस्थान में पहुँचने पर भी योग बाकी रह जाता है। अतएव गौतम स्वामी ने भगवान् से यह प्रश्न पूछा कि योग का प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—जो जीव योग का त्याग करता है, वह अयोगी होता है। जीव अयोगी हुए बाद नवीन कर्म नहीं बाँधता और पुराने कर्मों का नाश करता है।

योग के त्याग पर विचार करें, इससे पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि योग क्या है और योग का त्याग किस लिए आवश्यक है?

शास्त्रीय भाषा में योग का लक्षण कहा है—

कायवाङ्मनःकर्म योगः।

अर्थात्—मन, वचन और काय के व्यापार को योग कहते हैं।

'योग' शब्द युजि योगे धातु से निष्पन्न हुआ है। ग्रंथों में योग के पाँच भेद बतलाये गये हैं—१-क्षिप्तवृत्ति, २-मूढवृत्ति, ३-विक्षिप्तवृत्ति, ४-एकाग्रवृत्ति और ५-निरोधवृत्ति।

जिसमें रागद्वेष के कारण चंचलता रहती है और जिसमें रजोगुण की प्रधानता रहती है, उसमें क्षिप्तवृत्ति रहती है।

जो ऊपर से शान्त मालूम होता है पर वास्तव में शान्त नहीं है, उसे मूढ़ कहते हैं। इस प्रकार जिसमें आलस्य, निद्रा आदि की तथा तमोगुण की प्रधानता रहती है, उसमें मूढ़वृत्ति होती है।

जिस अवस्था में सतोगुण का प्रकाश तो हो परन्तु उस प्रकाश पर रजोगुण और तमोगुण की छाया बार-बार पड़ती रहती हो, वह विक्षिप्त अवस्था कहलाती है।

इस प्रकार क्षिप्तवृत्ति, मूढवृत्ति और विक्षिप्तवृत्ति द्वारा आत्मा का विकास नहीं होता। आत्मा का विकास करने के लिए आत्मा को एकाग्रवृत्ति और निरोधवृत्ति का अभ्यास करने की आवश्यकता है।

एकाग्रवृत्ति कैसी होती है, इसे समझाने के लिए दीपक का उदाहरण दिया गया है। निश्चल दीपक की शिखा स्थिर होने के कारण डगमगाती नजर नहीं आती। परन्तु वह शिखा प्रकाश की अपेक्षा स्थिर दिखाई देने पर भी पुद्गल की दृष्टि से तो अस्थिर ही है। उस शिखा के परमाणु निरन्तर बदलते रहते हैं। दीपक का तेल समाप्त हो जाता है, यही शिखा के बदलते रहने का प्रमाण है। ज्ञानी जनों का कथन है कि एकाग्रावस्था में शिखा की भाँति स्थिरता जान पड़ती है तथापि उस अवस्था में भी थोड़ी चंचलता रहती ही है। एकाग्रावस्था में थोड़ी-बहुत जो चंचलता रहती है, वह निरोध-वृत्ति से ही दूर हो सकती है। निरोधवृत्ति में समाधिभाव रहता है। इस प्रकार एकाग्रवृत्ति और निरोधवृत्ति आत्मा को निश्चल बनाती है और इन दो वृत्तियों द्वारा मन, वचन तथा काय का व्यापार बंद किया जाता है। तभी आत्मा समाधिभाव प्राप्त कर सकता है।

तेरहवे गुणस्थान तक एकाग्रवृत्ति रहती है। पाँचवीं निरुद्धावस्था या निरोधवृत्ति चौदहवें गुणस्थान में पहुँचने के बाद आती है। यह वृत्ति थोड़े समय तक ही रहती है। श्रीभगवतीसूत्र और उववाईसूत्र में धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान के नाम से गंभीर विचार किया गया है।

कहने का आशय यह है कि जब आत्मा अपने गुणों का विकास करके तेरहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान में पहुँचता है, तब उस अवस्था में आत्मा यदि मन, वचन तथा काय के योग का त्याग कर दे तो आत्मा को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फर्माया—योग का त्याग करने से आत्मा अयोगी बनता है और अयोगी होने के बाद वह पुराने कर्मों का नाश करता है तथा नवीन कर्मों का बंध नहीं करता। इस प्रकार आत्मा जब अयोगी बनता है तब ईर्यापथिक क्रिया द्वारा लगने वाले कर्म भी बद हो जाते हैं और भवोपग्राही चार कर्म अर्थात् आयुकर्म, नामकर्म गोत्रकर्म और वेदनीय कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। इन चार कर्मों के नष्ट होते ही आत्मा सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त हो जाता है।

यह तो योगनिरोध अथवा योग का त्याग करने से होने वाले लाभ की बात हुई। मगर यह विचार करना आवश्यक है कि हमें करना क्या चाहिए? योग का निरोध करने की शक्ति न हो तो क्षिप्तवृत्ति मूढ़वृत्ति तथा विक्षिप्तवृत्ति को तो दूर करने का क्रमशः प्रयत्न करना ही चाहिए।

कई लोग विक्षिप्तावस्था मे आनन्द मानते हैं और नाटक सिनेमा देखकर अपने जीवन को धन्य मानते हैं। परन्तु ज्ञानी जन

कहते हैं कि नाटक-सिनेमा आदि में वास्तविक आनन्द नहीं है। यह तो विक्षिप्त अवस्था है। कितने ही पढ़े-लिखे लोग भी विक्षिप्तावस्था में लीन रहते हैं। धन आदि के उपार्जन में धर्मकर्म को भी भूल जाते हैं। अगर शिक्षित लोग भी आत्मधर्म को न समझें तो उनका शिक्षण किस काम का ? सच्ची विद्या तो वही है जिसके द्वारा मनुष्य बंधन से मुक्त हो जाय। शिक्षा का सच्चा फल तो आत्मा को उन्नत बनाने में तथा एकाग्रता और निरुद्धावस्था प्राप्त करना ही है। चंचल चित्त का निरोध करने में शिक्षा का सदुपयोग किया जाय तो ठीक है, वर्ना शिक्षा से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

मनुष्य और पशु का अन्तर तो स्पष्ट दिखाई देता है परन्तु कई बार मनुष्य, पशु से भी अधिक पतित बन जाता है। जो मनुष्य सिर्फ खान-पान में ही रचा पचा रहता है और जरा भी धर्म-कर्म नहीं करता, वह मनुष्य पशु से भी अधिक पतित कहा जा सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि हम मिष्ट तथा विशिष्ट भोजन करने के कारण मनुष्य हैं ! इस कथन के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि भोजन तो पशु भी करता है, पर उसमें सार-असार का विवेक नहीं होता। मनुष्यसमाज विवेकज्ञान के कारण ही पशुओं और पक्षियों से ऊँचा है। मनुष्य मिष्ट और विशिष्ट भोजन करके फूला नहीं समाता परन्तु वह जो भोजन करता है उस भोजन के निर्माण का विज्ञान उसमें नहीं है। मधुमक्खियों में मधु उत्पन्न करने का जो विज्ञान है, वह मनुष्यो में कहाँ है ? मधुमक्खियाँ फूलों में से रस ले-लेकर जैसा मधु तैयार करती हैं, वैसा मधु क्या मनुष्य तैयार कर सकता है ? मधुमक्खियाँ मधु पैदा करना भी जानती हैं और मधु का संग्रह करना भी जानती हैं। सर्वप्रथम मधुमक्खियाँ छत्ता

बनाती हैं और उसमे बराबर के खाने बनाकर थोडा-सा मोम लगाती हैं और फिर उसमें मधु भरती है। मधुमक्खियों की यह कला मनुष्य के विज्ञान को भी लज्जित कर देती है। मधुमक्खियाँ छत्ता बनाने में कुशल कारीगर के समान कला का उपयोग करती हैं और अपनी कुशल कारीगरी का परिचय देती हैं। इसके अतिरिक्त वे मिल-जुल कर काम करती हैं। उनकी कार्यव्यवस्था बड़ी सुन्दर होती है। मधुमक्खियों की एकता, सुघड़ता, कार्यव्यवस्था और तन्मयता आदि गुण मनुष्यसमाज को सीखने योग्य हैं।

कहने का आशय यह है कि मनुष्य को प्रत्येक काम विवेक-पूर्वक करना चाहिए। जो मनुष्य विवेकज्ञान का उपयोग न करके सिर्फ खाने-पीने में, नाटक-सिनेमा देखने में तथा सांसारिक सुख भोगने में ही अपने जीवन को इतिश्री समझ बैठता है, उसमें और पशु में कुछ अन्तर नहीं। मनुष्यों और पशुओ मे धर्म तथा विवेक-ज्ञान का ही अन्तर है। अगर मनुष्यो में विवेकज्ञान न हो और धर्मबुद्धि न हो तो उनमे और पशुओ में कुछ अन्तर नहीं। विवेक-हीन मनुष्य की अपेक्षा तो मधुमक्खियाँ चतुर हैं। कहना चाहिए कि विवेकहीन पुरुष से उद्यमशील मधुमक्खियाँ अनेक गुणा अच्छी हैं। इन मक्खियों के उद्योगमय जीवन से एक शिक्षा तो अवश्य ग्रहण करने योग्य है। यह शिक्षा जीवन को उद्यमशील बनाने की है। कहा भी है :—

माखी होए मध कीधुं, न खाधुं न दान दीधुं।
लूटनारे लूटी लीधुंरे, पामर प्राणी चेते तो चेतावुं तोनेरे ॥

मधुमक्खियाँ मेहनत करके मधु तैयार करती है और उसका संग्रह करती हैं। वे न स्वय मधु खाती हैं और न किसी को

देती ही हैं। फिर क्या उनका बनाया मधु पड़ा रहता है? नहीं। लुटेरे लोग आते है और उनके परिश्रमपूर्वक तैयार किये मधु को लूट ले जाते हैं।

बहुत से लोग प्रसन्नता के साथ मधु खाते हैं परन्तु उन्हें यह पता नहीं होता कि मधु आता कहाँ से है? वे तो मधुमक्खियो के परिश्रम से संगृहीत मधु लूट कर अपने शरीर को हृष्टपुष्ट बनाते हैं। किन्तु जिस प्रकार वे दूसरो की चीज़ लूटकर खाते हैं; उसी प्रकार दूसरे लोग उन्हे नहीं लूट ले जाएँगे; इसका क्या विश्वास है? कहा भी है—

काल वैताल की धाक तिहुँ लोक में,
देव दानव घरे रोल घाले।

अर्थात्—कराल काल सब के मस्तक पर घूम रहा है। इस भयंकर काल के पंजे में से कोई छूट नहीं सकता। इस प्रकार जब सभी लोग काल के गाल मे फँसे हैं तो फिर अभिमान किस बात का करते हैं? अभिमान करने से आखिर पश्चात्ताप करने का ही अवसर आता है यह बात ध्यान में रखकर अभिमान का त्याग करना चाहिए और मानवशरीर का सदुपयोग करना चाहिए।

मानव-जीवन अस्थिर है। आयु जल की हिलोर के समान चंचल है। कवि ने ठीक कहा है कि—

विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतंग, आयुष्य ए तो जलना तरंग।
पुरन्दरीचाप अनंग रंग, शुं राचीए त्यां क्षणिक प्रसंग॥

जीवन की ऐसी अस्थिरता में मनुष्य का अभिमान करना मूर्खता ही है। मनुष्य अभिमान करके बहुत बार अपनी मूर्खता का

प्रदर्शन करता है। मान लो किसी मेंढक को साँप ने पकड़ लिया है। मेंढ़क का आधा मुख साँप के मुख में है और आधा बाहर है। फिर भी वह मेंढ़क अपना मुँह फाड़कर मक्खियों को पकड़ना चाहता है। अगर तुम मेंढ़क को ऐसा करते देखो तो उसे मूर्ख की पदवी देते देर नहीं करोगे। लेकिन तुम स्वयं कराल काल-सर्प के मुँह में फँसे हो, फिर भी अभिमान करते हो! यह मूर्खता नहीं तो क्या है? मनुष्य को विवेकज्ञान मिला है। वह सार--असार, हित-अहित का विचार कर सकता है। अतएव तुम अपने विवेक का सदुपयोग करो। इसी में कल्याण है।

———

अड़तीसवाँ बोल ।

शरीरप्रत्याख्यान

योग का प्रत्याख्यान करने से होने वाले लाभ का विचार किया जा चुका है। यहाँ शरीर-प्रत्याख्यान के विषय मे विचार करना है। गौतम स्वामी शरीर-प्रत्याख्यान के विषय में भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं।

मूलपाठ

प्रश्न—सरीरपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—सरीरपच्चक्खाणेणं सिद्धातिसयगुणकित्तणं निव्वत्तेइ, सिद्धातिसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगग्गमुवगए परमसुही भवइ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन ! शरीर के प्रत्याख्यान से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ।

उत्तर—शरीर के प्रत्याख्यान (त्याग) से जीव सिद्ध के अतिशय (उच्च) गुणभाव को प्राप्त करता है और सिद्ध के अतिशय गुण से सम्पन्न होकर वह जीव लोक के अग्रभाग में जाकर परम सुख प्राप्त करता है। अर्थात् सिद्ध (समस्त कर्मों से मुक्त) हो जाता है।

व्याख्यान

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है। वह यह कि जब योग के त्याग के विषय में विचार किया जा चुका है और वहाँ स्पष्ट कर दिया गया है कि योग मे मन, वचन और काय इन तीनों का समावेश होता है तो फिर यहाँ शरीर के प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में अलग प्रश्न किस उद्देश्य से किया गया है? इस विचारणीय प्रश्न का स्पष्ट उत्तर तो कोई महापुरुष ही दे सकता है। मैं अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करता हूँ।

मेरी समझ में, जान पड़ता है ज्ञानी जनों ने शरीर और काययोग में अन्तर देखा है। इस बात का प्रमाण यह है कि शास्त्र में जहां दस प्राणों का उल्लेख किया गया है वहाँ इन्द्रियबल प्राण को तथा कायबल को भी प्राण माना गया है। परन्तु जब कायबल को प्राण कह दिया गया तो फिर इन्द्रियबल को अलग प्राण मानने की क्या आवश्यकता थी? कायबल और इन्द्रियबल की गणना अलग-अलग की गई है, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ज्ञानीजनों ने इन्द्रियबल में और कायबल में अवश्य ही कोई अन्तर देखा तथा जाना है।

इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय के होने पर भी अगर भावेन्द्रिय न हो तो द्रव्येन्द्रिय

निरर्थक होती है। इस प्रकार ज्ञानी जनों ने इन्द्रियों में तथा काय में भिन्नता देखी है और इसी कारण योगप्रत्याख्यान के साथ ही शरीर-प्रत्याख्यान के विषय में अलग प्रश्न किया है।

अब यह देखना है कि ज्ञानी जन इन्द्रियदमन करने का जो कथन करते हैं सो इसका अर्थ क्या है? इन्द्रियदमन करना अर्थात् क्या इन्द्रियों को नष्ट कर देना? 'इन्द्रियदमन करो' का अर्थ इन्द्रियों को नष्ट कर दो; ऐसा नहीं है। इन्द्रियों को दुष्प्रवृत्ति में से पृथक् करके सत्प्रवृत्ति में नियोजित करना इन्द्रियदमन का अर्थ है। जैसे घोड़े को दमन करने के लिये कहा जाता है। मगर इसका अर्थ यह नहीं कि घोड़े के पैर काट दिये जाएँ। इसका अर्थ यह होता है कि घोड़े को यह सिखाया जाय कि वह खराब चाल न चले। इसी प्रकार इन्द्रियों के दमन का अर्थ इन्द्रियों का नाश कर देना नहीं; वरन् इन्द्रियों को खराब मार्ग पर जाने से रोककर सत्प्रवृत्ति में नियोजित करना है।

कहने का आशय यह है कि शरीर और काययोग में ज्ञानियों ने थोड़ा अन्तर देखा है और इसी कारण योगप्रत्याख्यान के प्रश्न के बाद शरीरप्रत्याख्यान के विषय में प्रश्न किया गया है।

शरीर की व्याख्या करते हुए कहा गया है—शीर्यते इति शरीरम्।' अर्थात् जो प्रतिक्षण शीर्ण होता जाय, वह शरीर है। प्रतिक्षण पलटते रहना शरीर का स्वभाव है। आज के वैज्ञानिकों का भी कहना है कि बारह वर्ष मे शरीर के समस्त परमाणु पलट जाते हैं। आज के वैज्ञानिक तो बारह वर्ष में शरीर के परमाणुओं का पलट जाना कहते हैं, मगर ज्ञानी जन तो कहते हैं कि शरीर के परमाणु प्रतिक्षण पलटते रहते हैं। शरीर का यह परिवर्तन दो

प्रकार से होता है—अनुकूल और प्रतिकूल। उदाहरणार्थ—एक ही प्रकार का भोजन कभी अनुकूल गुण पैदा करता है और कभी-कभी प्रतिकूल गुण उत्पन्न करता है। अगर भोजन करने में सावधानी रक्खी जाय तो भोजन शरीर को अनुकूल गुण देता है—लाभ पहुँचाता है, अन्यथा वही भोजन शरीर को हानिकारक हो जाता है। एक अनुभवी का कथन है कि भूख के कारण लोग इतने नहीं मरते, जितने अतिभोजन, अनिष्ट भोजन तथा अभक्ष्य भोजन के कारण मरते हैं। कितने ही लोग तप-उपवास तो कर लेते हैं परन्तु बाद में भोजन पर संयम रखना उनके लिए कठिन हो जाता है। भोजन के विषय में विवेक तथा संयम रखने वाले तथा रसास्वाद सम्बन्धी लोलुपता को जीतने वाले विरले ही दिखाई देते हैं। कुछ लोग ऐसे भी देखे जाते है जो तप करने के बाद भोजन करने में सावधानी नहीं रखते और जब परिणाम अच्छा नहीं आता तो कहते है कि तपश्चर्या से हानि हुई है। किन्तु यह बात हमेशा हृदय मे जमा रखनी चाहिए कि तपश्चर्या से त्रिकाल में भी कभी हानि नही हो सकती। शरीर को जो हानि होती है, वह तपश्चर्या से नहीं, भोजन सम्बन्धी असावधानी के कारण ही होती है।

शरीर और काय मे अन्तर है और इसी कारण इन दोनो के विषय मे अलग अलग प्रश्न किया गया है। काय शक्तिविशेष को कहते हैं और इन्द्रियाँ तथा मन जिसमे रहता है अथवा जिसका व्यवहार इन्द्रियों और मन द्वारा चलता है, वह शरीर है। कितने ही लोग-शरीर-को क्षेत्र भी कहते हैं। ज्ञानी जन कहते हैं—जब आत्मा शरीर हीन हो जाता है तब शरीर के साथ रहने वाले विकार भी नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञानी जन शरीर का प्रत्याख्यान करने के लिए कहते हैं। परन्तु यह विचार करना आवश्यक है कि शरीर का त्याग किस प्रकार करना चाहिए ? शरीर त्याग करने का अभिप्राय यहाँ यह नहीं है कि फाँसी लगाकर शरीर त्याग दिया जाय। ऐसा करने से तो आत्महत्या हो जायगी। फाँसी लगा कर मर जाना शरीरप्रत्याख्यान करना नहीं है। प्रत्याख्यान शब्द प्रति + आ उपसर्ग लगाकर ख्या धातु से बना है। इस शब्द का अर्थ यह है कि किसी वस्तु का इस प्रकार त्याग करना कि त्यागी हुई वस्तु के प्रति फिर ममता ही न रह जाए। उदाहरणार्थ–धन का त्याग दो प्रकार से होता है। एक तो दान देने से धन का त्याग होता है, दूसरे किसी को उधार देने से भी त्याग होता है। दोनों प्रकार के इस त्याग में बहुत अन्तर है। दान में धन का जो त्याग किया गया है उसमें धन के प्रति ममत्व नहीं रहता, मगर उधार दिये धन के प्रति ममता बनी रहती है। दान आदि सत्कार्य में व्यय किये हुए धन के प्रति ममत्व न रहने के कारण धन का वह सच्चा त्याग है। उधार दिये हुए धन के पीछे और अधिक धन पाने की ममत्वबुद्धि रहती है। अतः वह सच्चा त्याग नहीं है। यह तो स्पष्टतः धनमोह है। जहाँ मोह-ममत्व होता है वहाँ त्याग या प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। अतः शरीर सम्बन्धी मोह-ममता का त्याग करना ही शरीरप्रत्याख्यान कहलाता है। आखिरकार सभी को शरीर का त्याग करना पड़ता है। शरीर अस्थिर है। वह हमेशा टिका नहीं रहता। परन्तु जो आत्मा शरीर की अस्थिरता समझकर शरीर पर से मोह-ममता उतार देता है–शरीर का त्याग कर देता है–वह निर्मोही शरीरत्यागी आत्मा; विदेही बनकर सिद्धत्व के गुण प्राप्त करता है और सिद्ध भगवान् की कोटि में पहुँच जाता है। निर्मोही बनकर शरीर का त्याग करने से

सिद्धि प्राप्त होती है। शरीरत्याग से जीव मुक्ति प्राप्त करने का अपूर्व लाभ पालता है।

जब शरीर के त्याग के विषय में प्रश्न चल रहा है तो यह विचार कर लेना भी आवश्यक है कि शरीर क्या है ? और उसके कितने प्रकार हैं ?

जिसका स्वभाव ही जीर्णशीर्ण होने का है, वह शरीर है। शरीर के पाँच प्रकार हैं—(१) औदारिकशरीर (२) वैक्रिय शरीर (३) आहारक शरीर (४) तैजस शरीर (५) कार्मण शरीर। संक्षेप में शरीर दो प्रकार का है—सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर। सूक्ष्म शरीर मे अर्थात् कार्मण शरीर में सभी संस्कार विद्यमान रहते हैं, जैसे एक सजीव बीज मे सारा वृक्ष विद्यमान रहता है। बीज तो वृक्ष से पृथक् होकर नीचे गिर जाता है, फिर भी उस बीज मे वृक्ष के सब संस्कार रहते ही हैं। वह बीज पृथ्वी, पानी आदि का संयोग मिलते ही विकसित हो जाता है और वह छोटा-सा बीज ही क्रमशः वृक्ष का रूप धारण करता है। इसी प्रकार ममतापूर्वक शरीर का त्याग करने पर भी सूक्ष्म कार्मण शरीर आत्मा के साथ रहता है और उसमे जीव के सभी संस्कार विद्यमान रहते हैं और संयोग मिलते ही वे संस्कार शारीरिक रूप धारण कर लेते हैं। जैसे वट वृक्ष का बीज प्रमाण में तो बहुत ही छोटा होता है परन्तु उस छोटे से बीज में ही विशालकाय वट वृक्ष के समस्त संस्कार विद्यमान रहते हैं। बाह्य दृष्टि से तो बीज मे वट वृक्ष का स्वरूप दिखाई नहीं देता परन्तु पृथ्वी-पानी आदि का संयोग प्राप्त होते ही वह छोटा-सा बीज वट वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार कार्मण शरीर मे भी जीव के सब संस्कार मौजूद रहते है।

अगर कोई पूछे कि कार्मण शरीर कहाँ है और उसमें जीव के सब संस्कार कहाँ रहते हैं ? ऐसा पूछने वाले को यही उत्तर दिया जा सकता है कि जब अष्टस्पर्शी बड़ के बीज मे रहे हुए वृक्ष के संस्कार दिखाई नहीं देते तो फिर चतुस्पर्शी कार्मण शरीर मे जीव के संस्कार कैसे देखे जा सकते है ? अतएव कार्मण शरीर को प्रत्यक्ष देखने का दुराग्रह अनुचित है। इसके सिवाय, अपनी स्थूल दृष्टि से सूक्ष्म कार्मण शरीर तो दिखाई भी नही दे सकता।

कहा जा सकता है कि जब पुरातन कर्मसंस्कार हमारे साथ ही हैं तो फिर उन कर्मसंस्कारों को नष्ट करने का पुरुषार्थ करने से क्या लाभ ? इसका उत्तर यह है कि संक्रमण हो सकता है। जैसे वृक्ष में सुधार हो सकता है, उसी प्रकार कर्मसंस्कार भी बदले जा सकते हैं। पुण्य-पाप कर्म मे भी संक्रमण हो सकता है। कर्म की रस और प्रकृति आदि का भी घात हो सकता है। बीज में अच्छी शक्ति मौजूद होने पर भी असावधानी रखने के कारण वह शक्ति नष्ट हो जाती है अथवा खराब हो जाती है; और इसके विपरीत बीज मे अच्छी शक्ति न होने पर भी सावधानी के कारण तथा प्रयत्न करने से बीज में अच्छी उत्पादन शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार अच्छे कर्म भी प्रमाद तथा असावधानी के कारण खराब कर्म बन जाते है और सावधानी तथा सतर्कता के कारण खराब कर्म भी अच्छे कर्म बन जाते हैं। विज्ञान द्वारा वृक्षों का सुधार किस प्रकार हो सकता है, इस विषय में तुमने शायद सुना होगा। सुना है, गोभी का शाक पहले कटुक होता था, परन्तु वैज्ञानिक रीति से उसमे संशोधन किया गया। तब कडुवा शाक भी मीठा बन गया। आम भी आजकल हरएक मौसिम में मिलता है। इसका क्या कारण है ? इसका कारण भी वैज्ञानिक सुधार ही है। शास्त्र मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि

प्रत्येक वस्तु का उपक्रम होता है। वह उपक्रम दो प्रकार का है-परिकर्म अर्थात् सुधार और दूसरा वस्तुविनाश। यह दोनों प्रकार का उपक्रम द्विपद, चतुष्पद तथा अपद इन तीनो का होता है। वृक्ष अपद है अतः उसका भी उपक्रम होता है।

भारतवर्ष मे आज वस्तुविनाश की ओर जितना लक्ष्य दिया जाता है, उतना परिकर्म-सुधार की ओर नहीं। इसके विपरीत विदेशी विद्वान् विज्ञान द्वारा वस्तु का परिकर्म करते ही रहते हैं। सुना है, अमेरिका में ले जाई गई भारतीय गाय प्रतिदिन १६० रतल दूध देती है। मगर भारत मे, भारत ही की गाय इतना दूध क्यों नहीं देती ? इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीय लोगो का ध्यान वस्तु के परिकर्म की ओर गया ही नहीं है। आज विदेशियों ने जो वैज्ञानिक उन्नति की है, उसका मुख्य कारण यही है कि परिकर्म की ओर उनका लक्ष्य है। भारतीय अगर वैज्ञानिक ढँग से वस्तु का परिकर्म करें तो भारत भी उन्नत बन सकता है।

कहने का आशय यह है कि अन्य वस्तुओं की तरह कर्म का भी उपक्रम हो सकता है। अगर कर्म का उपक्रम न होता तो कोई मोक्ष में ही नहीं पहुँच सकता। कर्म नष्ट किये जा सकते हैं और इसीलिए भगवान् ने कहा है—चौदहवें गुणस्थान में पहुँचकर आत्मा अशरीर बनकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

कुछ लोगों का कहना है कि सिद्ध होने के बाद आत्मा शून्यरूप हो जाता है। अर्थात् सिद्ध होने के पश्चात् आत्मा सिद्ध गति में शून्य सरीखा हो जाता है। परन्तु यह बात भ्रमपूर्ण है। सिद्ध होने पर आत्मा पूर्णज्ञानी बन जाता है, और इन्द्रिय तथा

शरीर न होने पर भी वह सिद्ध होकर रहता है। सिद्ध का स्वरूप कैसा होता है; यह बात श्रीआचारांगसूत्र में कही है:—

से न दीहे, न हस्से, न वट्टे, न तंसे, न चउरंसे, न परिमंडले, न कण्हे, न नीले, न लोहिए, न हलिद्दे, न सुक्किले, न सुरभिगंधे, न दुरभिगंधे, न तित्ते, न कडुए, न कसाए, न अंबिले, न महुरे, न कक्खडे, न मउए, न गरुए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न लुक्खे, न काऊ, न रुहे, न संगे, न इत्थे, न पुरिसे, न अन्नहा परिन्ने सन्ने। उवमा न विज्जइ। अरूवी सत्ता अपयस्य पयं नत्थि॥

अर्थात्--आत्मा लम्बा नहीं, छोटा नहीं, गोल नहीं, तिकोना नहीं, चौकोर नहीं, मंडलाकार नहीं, काला नहीं, नीला नहीं, लाल नहीं, पीला नहीं, सफेद नहीं, सुगंधित नहीं, दुर्गंधित नहीं, तिक्त नहीं, कटुक नहीं, कसैला नहीं, खट्टा नहीं, मीठा नहीं, कठोर नहीं, कोमल नहीं, भारी नहीं, हल्का नहीं, ठंडा नहीं, गर्म नहीं, रूखा नहीं, चुपड़ा नहीं, रूक्ष नहीं, चिकना नहीं, स्त्री नहीं, पुरुष नहीं, नपुंसक नहीं। वह ज्ञाता है, विज्ञाता है। उसकी कोई उपमा नहीं है। वह अरूपी सत्ता है। वह अनिर्वचनीय है—शब्दातीत है।

भावार्थ यह है कि जिसमें वर्ण, रस, गंध और स्पर्श की पर्याय नहीं होती, वह सिद्ध हैं। इससे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि वर्ण, रस, गंध तथा स्पर्श का सम्बन्ध शरीर के ही साथ है। अशरीर हो जाने के बाद वर्ण आदि का सम्बन्ध नहीं रहता।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि सिद्धात्मा में अगर वर्ण आदि कुछ भी नहीं है तो वह किस प्रकार के हैं? इस प्रश्न-

कर्त्ता से यह प्रश्न करना चाहिए कि जिस वस्तु में वर्ण, रस, गन्ध तथा स्पर्श नहीं होते, वह वस्तु कैसी होती है? इस प्रश्न का जो उत्तर हो, वही उत्तर प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न का समझना चाहिए।

उदयपुर में एक वकील के साथ मेरा वार्तालाप हुआ था वकील आत्मा को प्रत्यक्ष बताने के लिये कहते थे। मैंने उनसे कहा—'आप अंग्रेजी पढ़े हैं? उन्होंने उत्तर दिया—'हाँ, मैं अंगरेजी पढ़ा हूँ।' तब मैंने उनसे कहा—'आप अपने मस्तिष्क में से अंग्रेजी निकालकर नहीं बता सकते तो फिर अरूपी आत्मा किस प्रकार बतलाया जा सकता है? शास्त्र में आत्मा के विषय में कहा है:—

तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया।

अर्थात्—आत्मा की सिद्धि के लिए तर्क काम नहीं आते और बुद्धि की भी आत्मा तक पहुँच नहीं है।

आत्मा बुद्धिगम्य नहीं है, इसी कारण उसके विषय में 'नेति नेति' कहा गया है। असल में पूर्ण वस्तु का वर्णन हो ही नहीं सकता। आज आत्मा का जो वर्णन मिलता है, वह अपूर्ण है। तिजोरी बड़ी होती है और चाबी छोटी सी। फिर भी इस छोटी-सी चाबी से तिजोरी खोली जा सकती है और उसमें रक्खा हुआ माल लिया जा सकता है, इसी प्रकार शास्त्र में आत्मा रूपी तिजोरी की चाबी रूप जो भी थोड़ा सा वर्णन मिलता है, उस वर्णन रूपी चाबी से आत्मा रूपी तिजोरी को खोलो तो मालूम होगा कि आत्मा कैसा है? और उसमें कैसी कैसी शक्तियाँ छिपी हुई हैं?

कहने का आशय यह है कि शरीर परवस्तु है और इसीलिए उसका प्रत्याख्यान किया जाता है। शरीर और आत्मा भिन्न भिन्न हैं। यह भेदज्ञान हो जाय तो तुम भी राजा प्रदेशी की तरह

अपना कल्याण कर सकते हो। प्रदेशी राजा भी आत्मा का स्वरूप नहीं जानता था। वह शरीर को ही आत्मा मान बैठा था और शरीरसुख को ही वास्तविक सुख समझता था! इस विपरीत मान्यता के कारण वह उन्मार्गगामी हो गया था। परन्तु चित्त प्रधान प्रदेशी राजा का मार्गदर्शक बना और उसे सन्मार्ग पर लाया। राजा प्रदेशी जब सन्मार्ग पर आरूढ़ हुआ अथवा यों कहो कि जब उसे आत्मा और शरीर की भिन्नता का ज्ञान हुआ तब उसने नरक को भी स्वर्ग बना लिया। मिथ्याभिमान के कारण अनेक जीव संसार-सागर में गोते खा रहे हैं। मगर जब धर्मनौका का आश्रय मिलता है, तब धर्मनौका की सहायता से पतित आत्मा भी संसार-सागर को पार कर जाता है। प्रदेशी राजा भी संसार-सागर में गोते खा रहा था। परन्तु जब भगवान् केशीकुमार ने उसे धर्मनौका बताई और राजा ने उस नौका का आश्रय लिया, तो वह अधर्मी कहलाने वाला राजा भी धर्म-नौका का नाविक बन गया और संसारसागर को पार करने में समर्थ हुआ।

तुम भी संसार-सागर मे गोते खा रहे हो। अगर धर्मनौका का आश्रय लोगे तो एक दिन तुम भी संसार-सागर पार कर सकोगे।

गीता में कुरुक्षेत्र और धर्मक्षेत्र के विषय मे उल्लेख किया गया है। गीता का रहस्य गम्भीर है। कुरुक्षेत्र का सामान्य अर्थ खराब क्षेत्र होता है। अर्थात् यह शरीर मल-मूत्र से भरा होने के कारण कुरुक्षेत्र है। इस कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र बनाना चाहिए। अर्थात् आत्मा के उद्धार में शरीर का उपयोग करना चाहिए। कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र बनाने के लिए हमेशा युद्ध करना पड़ता है। जो शरीर का गुलाम नहीं है, ऐसा आध्यात्मिक योद्धा इस कुरुक्षेत्र में कैसे कैसे आत्मिक

साधनों से जीवनसंग्राम में अग्रसर होता है, इसके विषय में श्री उत्तराध्ययन के नौवें अध्याय में कहा है:—

सद्धं नगरं किच्चा तवसंवरमग्गलं।
खंती निउणपागारं तिगुत्तं दुप्पसंधयं॥
धणुं परक्कमं किच्चा जीवं च इरियं सया।
धिइं च केयणं किच्चा सच्चेण पलिमंथए॥
तवनारायजुत्तेणं भित्तूण कम्मकंचुयं।
मुणी विगयसंगामो भवाओ परिमुच्चए॥

उत्तरा० ६, २०-२१-२२

नमि राजर्षि देवेन्द्र को बतला रहे हैं कि जीवन-संग्राम किस प्रकार खेलना चाहिए! श्रद्धा रूपी नगर, संवर-संयम रूपी आगल, क्षमा रूपी सुन्दर प्राकार, तीन गुप्ति रूपी दुर्जय किला, पराक्रम रूपी धनुष, इर्यासमिति रूपी डोरी और धैर्य रूपी केतन बनाकर सत्य के द्वारा परिमंथन करना चाहिए। क्योंकि तपश्चर्या रूपी बाणों से युक्त मुनिराज कर्म रूपी बख्तर को भेदन करके संग्राम में विजयी होते हैं और संसार के बन्धनो से मुक्त हो जाते हैं।

ऊपर वर्णित आध्यात्मिक शस्त्रों द्वारा अगर कर्मशत्रुओं के साथ युद्ध किया जाय तो आध्यात्मिक शस्त्रों के सामने पाशविक शस्त्र निष्फल साबित होते हैं। इसमे तनिक भी संदेह नहीं है। आध्यात्मिक शक्ति के समक्ष पाशविक शक्ति सदैव परास्त होती है। आध्यात्मिक शक्ति दैवी सपदा है और पाशविक शक्ति दानवी संपदा है। दैत्य हमेशा ही देवों से पराजित हुए हैं, ऐसा पौराणिक कथाओं में सुना जाता है। इसका रहस्य यही है कि दानवी शक्ति दैविक-

आध्यात्मिक शक्ति के सामने परास्त हो जाती है। तुम भी आध्यात्मिक शस्त्रों द्वारा पाशविक शस्त्रों को पराजित करो। इसी में तुम्हारा कल्याण है। अहिंसा, क्षमा, तपश्चर्या आदि आध्यात्मिक शस्त्र है और क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, मत्सर आदि पाशविक शस्त्र हैं। आध्यात्मिक शस्त्र शक्ति मैया (माता) के आयुध हैं और पाशविक शस्त्र पाशविक शक्ति के आयुध है। तुम आध्यात्मिक शस्त्र हाथ में लेकर जीवन-संग्राम में कर्म-शत्रुओ के साथ युद्ध खेलो और उन्हे परास्त करो। इसमें कल्याण है।

जीर्ण-शीर्ण हो जाने के कारण शरीर नाशवान् है और आत्मा अजरामर होने के कारण अविनाशी है। आत्मा देही है, शरीर देह है। आत्मा देह रूपी गृह में निवास करता है। आत्मा शरीर का त्याग करना चाहे तो कर सकता है। शरीर में आसक्त रहने के कारण ही आत्मा को अनेक प्रकार के दुःख सहन करने पड़ते हैं। शरीर और आत्मा में क्या अन्तर है, यह बतलाते हुए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था:—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

अर्थात्—हे अर्जुन! तू शरीर को ही सर्वस्व मान बैठा है, परन्तु यह शरीर तो वस्त्र के समान है। जैसे फटे पुराने वस्त्र को उतार कर नवीन वस्त्र धारण करने में आनन्द माना जाता है, उसी प्रकार आत्मा (देही) भी शरीर रूपी वस्त्र का त्याग करके नवीन शरीर-वस्त्र धारण कर लेता है।

तुम लोग शरीर रूपी वस्त्र त्याग करते समय रुदन करते हो या प्रसन्न होते हो ? अगर तुम्हे यह ज्ञान हो जाय कि मैं आत्मा मरता नहीं हूँ, वरन् शरीर रूपी वस्त्र बदल रहा हूँ, तो शरीर त्याग करते समय तुम्हें जरा भी दुःख नहीं होगा। जैसे संसार की और सम्पदाएँ आती जाती रहती हैं, उसी प्रकार शरीर भी बदलता रहता है। देह का नाश होता है, देही का नाश नहीं होता। देह का लालन पालन चाहे जैसे किया जाय, आखिर उसका नाश अवश्य होता है। 'देह का नाश होता है, देही का नहीं' यह बात ध्यान में रखकर अनेक भक्तों ने तथा महात्माओं ने असह्य संकट सहन करके भी आनन्द का अनुभव किया था। अगर आत्मा को अपनी अजर-अमरता का भान हो जाय तो उसका कल्याण हुए विना नहीं रह सकता।

उनचालीसवाँ बोल

सहायप्रत्याख्यान

शरीर-प्रत्याख्यान के विषय मे विचार किया जा चुका। शरीर का त्याग करने के लिए आत्मा को परावलम्बन का त्याग करके स्वावलम्बी बनना चाहिये। अब इसी विषय में विचार करना है। स्वावलम्बी बनने के लिये और परावलम्वन का परित्याग करने के लिए दूसरे की सहायता का त्याग करना आवश्यक है। दूसरे की सहायता का त्याग करने से आत्मा को क्या लाभ होता है? इस विषय में गौतम स्वामी, भगवान् से प्रश्न करते हैं :—

मूलपाठ

प्रश्न—सहायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—सहायपच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ, एगीभावभूए वि य णं जीवे एगग्गं भावेमाणे अप्पसद्दे अप्पझंझे अप्पकलहे अप्पकसाए अप्पतुंमंतुमे संजमबहुले संवरबहुले समाहिए यावि भवइ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! सहायता का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—सहायता का त्याग करने से जीवात्मा एकत्वभाव को प्राप्त होता है और एकत्वभाव को प्राप्त जीव अल्पकषायी, अल्पक्लेशी तथा अल्पभाषी होकर संयम, संवर तथा समाधि में अधिक दृढ़ होता है।

व्याख्यान

सहाय का साधारण अर्थ है—मदद ! किसी आत्मा में जब दूसरे के बल पर आश्रित न रहने की और अपने ही बल पर खड़े रहने की भावना उत्पन्न होती है तब वह आत्मा दूसरे की सहायता का त्याग करके स्वाश्रयी बनता है।

इस सूत्र में परावलम्बन का त्याग करके स्वावलम्बी बनने की शिक्षा दी गई है। यह शिक्षा साधु और श्रावक को ही ग्रहण करने योग्य नहीं वरन् आत्मकल्याण के प्रत्येक अभिलाषी के लिए यह समझने और ग्रहण करने योग्य है।

भगवान् ने साधुओं के लिए कहा है—'साधुओं को सदैव यह भावना करनी चाहिए कि मैं अपने ही बल पर आश्रित रहूँगा, दूसरों की सहायता नहीं लूंगा।' साधुओं को यह भावना ही नहीं करना चाहिए बल्कि शक्ति का संचय करके भावना को सफल बनाने का भी प्रयत्न करना चाहिए। कल्याण के इच्छुक साधु अपनी शक्ति देखकर दूसरो की सहायता का त्याग करते हैं और स्वावलम्बी बनते हैं।

दूसरों की सहायता का त्याग करने से और स्वावलम्बी बनने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय में गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया है। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फर्माया—सहायता का त्याग करने से पहला लाभ तो एकाग्र भावना उत्पन्न होना है अर्थात् सहायत्याग से मन संकल्प-विकल्प का त्याग करके एकाग्र बन जाता है। स्वावलम्बी बन जाने से यह संकल्प-विकल्प मन में उत्पन्न नहीं होता कि कोई मुझे सहायता देगा या नही ? इस प्रकार मन एकाग्र—संकल्प-विकल्पहीन बनने से सहायता का त्यागी अपने आपको एकाकी–अकेला—अनुभव करने लगता है। तब वह दूसरो के साथ अधिक संभाषण नहीं करता और 'अमुक काम करना है, अमुक काम नहीं करना है' इस प्रकार की झंझटो से छुटकारा पा लेता है। किसी प्रकार के बाहरी झंझट में न पड़ने के कारण सहायत्यागी को किसी के साथ रगड़ा झगड़ा (क्लेश) नही करना पड़ता। रगड़े-झगड़े न होने से उसमें कषायभाव पैदा नहीं होता। इस प्रकार सहायता का त्याग करके स्वावलम्बी बनने से जीवात्मा एकाग्रचित्त, एकाकी, अल्पभाषी, अल्पक्लेशी तथा अल्पकषायी बनता है और संयम, संवर तथा समाधि में अधिक दृढ़ होता है। इस तरह एक सहायता के त्याग से आत्मा को अनेक लाभ होते हैं।

यह मूल सूत्र पर विचार किया गया। अब यह विचार करना है कि इस सूत्र से हमें क्या सार लेना चाहिए ?

इस सूत्र का प्रधान स्वर यह है कि स्वावलम्बी बनो, परावलम्बी नहीं; स्वतन्त्र बनो, परतन्त्र नहीं। आज लोग स्वतन्त्रता-स्वतन्त्रता चिल्लाते हैं, मगर स्वतन्त्र बनने के सच्चे मार्ग पर नहीं

चलते। स्वतन्त्र बनने के लिए सर्व प्रथम स्वावलम्बी बनना आवश्यक है। स्वावलम्बी बने विना कोई भी देश या समाज स्वतन्त्र नहीं बन सकता। आत्मा को भी कर्मबन्धनों से मुक्त करके स्वतन्त्र बनाने के लिए पर की सहायता त्याग कर स्वावलम्बी बनना आवश्यक है। जो मनुष्य स्वावलम्बी नहीं होता उसे पद-पद पर आपत्तियों का सामना करना पड़ता है।

आज जितने सुखसाधन बढ़े हैं, उतने ही परतन्त्रता के बन्धन बढ़ गये हैं। आज जो साधन सुखसाधन कहलाते हैं, वे वास्तव में सुखदायी नहीं हैं। वे परतन्त्रता के बन्धन हैं। परतन्त्रता के इन बन्धनो को ढीला करने के लिए तथा कर्मबद्ध आत्मा को स्वाधीन बनाने के लिए दूसरो की सहायता का त्याग करके स्वावलम्बी बनने की आवश्यकता है। सुखसाधनों की जो जितनी सहायता लेता है वह उतना ही परतन्त्र बनता है। उदाहरणार्थ—मान लो, किसी जगह जल्दी पहुँचने के लिए रेलवे का साधन मौजूद है। तो क्या इस साधन के कारण तुम परतन्त्र नहीं बने हो? क्या रेल कभी तुम्हारी प्रतीक्षा करती है? इसके विपरीत तुम्हे रेल की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अतएव रेल तुम्हारे अधीन नहीं, वरन् तुम्हीं रेल के अधीन हो। यही तो परतन्त्रता है! जो लोग रेल का त्याग कर देते हैं वे रेल के अधीन नहीं हैं। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों और सुखसाधन बढ़े हैं त्यों-त्यों परतन्त्रता के बन्धन बढ़े हैं।

परतन्त्रता में मानसिक स्थिति डॉवाडोल रहती है। स्वतन्त्र अवस्था में ही मन एकाग्र रह सकता है। अतः जो एकाग्रता के उपासक हैं, उन्हें दूसरो की सहायता का त्याग करना ही चाहिए। दूसरों की सहायता लेने वाला परतन्त्रता के कारण तथा अपनी

निर्बलता के कारण सहायता लेता है। अगर अपनी निर्बलता दूर कर दी जाय तो फिर किसी की सहायता लिए विना भी काम चल सकता है। दूसरों से जितनी सहायता ली जायगी, उतनी ही परतन्त्रता बढ़ेगी और एकाग्रता घटेगी। एकाग्रता भंग होने से आत्मा के अनेक गुणों का नाश हो जाता है। अगर वृक्ष को बार-बार उखाड कर एक जगह से दूसरी जगह रोपा जाय तो क्या वह फल-फूल दे सकेगा ? नहीं। इसका प्रधान कारण यह है कि उस वृक्ष में एकाग्रता का गुण नहीं रह पाता। पालीयाद में बार-बार भूकम्प के धक्के लगने से लोग भयभीत हो गये हैं और उनकी एकाग्रता भंग हो गई है। जहाँ आधार में ही चञ्चलता हो वहाँ आधेय में एकाग्रता कैसे आ सकती है ? जैसे वृक्ष को बार-बार एक जगह से दूसरी जगह उखाड़-उखाड़ कर रोपने से उसका फल-फूल देने का गुण नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सकल्प-विकल्प से बार-बार मन को चंचल करने से आत्मा की गुण-शक्ति घटती जाती है। जब तक मन की चंचलता दूर नहीं होती, तब तक आत्मा में सद्गुणों की स्थिरता भी नहीं रह सकती।

कुछ लोगों का कहना है कि शास्त्र में जिन चमत्कारों का वर्णन निकला है, वे चमत्कार आज क्यों नहीं दिखाई देते ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शास्त्र में वर्णित चमत्कार तो सच्चे ही हैं मगर अपने मन की चंचलता के कारण वे आज दिखाई नहीं दे सकते। आज लोगों के मन में कैसी चचलता आ गई है, इस बात का जरा विचार तो करो। तुम (श्रोता) लोग अभी यहाँ बैठे हो, पर तुममें से किसका मन कहाँ घूम रहा है, यह कौन कह सकता है ? मन में इतनी अधिक चंचलता होने का कारण दूसरों की सहायता लेना ही है।

तुम समझते हो कि हम रेल, तार, टेलीफोन, वायुयान आदि वैज्ञानिक सुख-साधनों की सहायता मिलने के कारण सुखी हैं। मगर इन सब सुख-साधनों के कारण तुम्हारे मन में कितनी और किस प्रकार की चंचलता बढ़ गई है, यह विचार तो करो। इन सुखसाधनों के कारण तुम अपने को सुखी मानते हो, परन्तु जिनके पास यह साधन नहीं हैं और जिन्होंने स्वेच्छापूर्वक इन साधनो की सहायता लेने का त्याग कर दिया है, वे साधु क्या दुःखी हैं? साधु सुखसाधनो की सहायता नहीं लेते। जो सच्चे साधु हैं और जो यह मानते हैं कि भगवान् ने हमारी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए ही हमें ऐसे साधनों की सहायता न लेने की आज्ञा दी है, वे साधु अपने आपको सब से ज्यादा सुखी मानते हैं।

कदाचित किसी साधु के मन में यह धारणा हो कि आज कल चमत्कार को नमस्कार किया जाता है। अतएव हमारे पास किसी प्रकार की लब्धि हो तो अच्छा है। हम उस लब्धि का प्रयोग करके चमत्कार दिखा सकेंगे। इस प्रकार विचार करने वाले साधु को सोचना चाहिए कि जब भगवान् ने हमे दूसरे की सहायता लेने का निषेध किया है तो फिर हम लब्धि का प्रयोग करके चमत्कार दिखला ही कैसे सकते हैं? साधुओ को लब्धि का उपयोग चमत्कार दिखाने में नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, वरन् किसी दूसरे की सहायता भी नहीं लेनी चाहिए।

मैंने एक पुस्तक में पढ़ा था—एक आदमी ने दूसरे से कहा—मुझे लब्धि प्राप्त हुई है और मैं उससे चमत्कार दिखा सकता हूँ। दूसरे ने उत्तर दिया—कुछ चमत्कार दिखाओ तो मालूम हो कि तुम्हें कैसी लब्धि प्राप्त हुई है। लब्धि वाले मनुष्य ने रास्ता चलते एक मदोन्मत्त हाथी को योग-शक्ति द्वारा जड़वत् बना दिया। यह

दृश्य देख कर दूसरा आदमी चकित रह गया। उसने एक तीसरे आदमी से यह आश्चर्य कथा कही। उसने दूसरे से कहा—बताओ तो सही, क्या आश्चर्य देखा है? तब दूसरे आदमी ने कहा—अमुक आदमी ने अपनी योग-शक्ति के द्वारा रास्ता चलते मदोन्मत्त हाथी को जड़वत् बना दिया। यह सुन कर तीसरे आदमी ने कहा—इसमें इतना आश्चर्य करने की कौन-सी बात है? यह काम तो एक दवा से भी हो सकता है। योगी ने योगसाधना करके भी अगर ऐसा चमत्कार दिखलाया तो योगसाधना का फल ही क्या हुआ? हाथी को जड़वत् बना देना कोई योग का चमत्कार नहीं है। दवा से भी यह काम हो सकता है और ऐसी मेरे पास भी है। तुम यह दवा ले जाओ और किसी मदोन्मत्त हाथी की पूंछ पर थोड़ी-सी लगा देना। फिर देखना, इस दवा का क्या असर होता है। दूसरे आदमी ने उस दवा का हाथी पर प्रयोग कर देखा। उसे विश्वास हो गया कि हाथी को जड़वत् बना देने की क्रिया तो दवा के द्वारा भी हो सकती है।

तीसरे आदमी ने उससे कहा—दवा के प्रयोग से मदोन्मत्त हाथी भी जड़वत् बन सकता है; यह विश्वास तुम्हे हो गया न? अगर यही कार्य योगसाधना द्वारा किया जाय तो योग की सिद्धि क्या रही? सच्चा योग तो मन को एकाग्र करके काबू मे कर रखना है। अगर मन काबू में नहीं रहता तो समझना चाहिए कि वह योग ही सच्चा नहीं है। जो अपना मन एकाग्र करके काबू में रखता है, उस योगी के लिए संसार मे ऐसा कोई कार्य नहीं जो अशक्य हो! ऐसी कोई वस्तु नहीं जो उसके अधीन न हो, सच्चा योगी वही है जो साधनों का त्याग कर देता है। साधुओं ने संसार की सहायता का त्याग करके स्वतंत्र बनने के लिए ही संसार का त्याग किया है। मन

को एकाग्र करने के लिए तथा आत्मा को त्रिविध ताप से बचाने के लिए पर की सहायता का त्याग करना आवश्यक है।

आज कल साधुओं को भी जमाने की हवा लग गई है। इसी कारण उनमें यथोचित निश्चलता और निस्पृहता नजर नहीं आती। चित्त की चंचलता का कारण जमाना बदलना बतलाया जाता है, पर जमाना किसने बदल दिया है, इस बात का विचार नहीं किया जाता। दोष चाहे जमाने को दिया जाय, चाहे किसी और के सिर मँढ़ा जाय, परन्तु साधुओ के लिए श्रेयस्कर यही है कि वे दूसरों की सहायता का त्याग करे।

यह बात दूसरी है कि कभी सच्ची बात भी दबा दी जाती है और झूठी बात को भी महत्व मिल जाता है, मगर सचाई अन्त में सचाई ही सिद्ध होती है। अतः जमाने की किसी बुराई को जीवन में स्थान न देते हुए, दूसरो को सहायता त्याग कर, मन की चंचलता दूर करके, एकाग्र भावना प्रगट करनी चाहिए। जब तक दूसरो की सहायता लेने की भावना रहेगी तब तक मन की चंचलता बढ़ती ही रहेगी। इससे विपरीत, सहायता लेने का जितना त्याग किया जायगा और जितने परिणाम में स्वावलंबी होने का प्रयत्न किया जायगा, उतना और उसी परिमाण में आत्मा स्वतन्त्र और स्वाधीन बनेगा। ज्ञानी जनो का कथन है कि साधनो का जितना त्याग किया जायगा, त्याग उतना ही सफल होगा। सुख-साधनों का त्याग करने से बंधन ढीले होंगे और जीवन मे निस्पृहता आएगी। इससे विपरीत सुख साधन में जितनी वृद्धि की जायगी, उतने ही परिमाण में बंधन दृढ़ होगे। परिणाम स्वरूप जीवन में परतन्त्रता का प्रवेश होगा।

आज एक दूसरे पर जो आक्षेप किये जाते हैं, उसका प्रधान कारण भी साधनो की वृद्धि है। सुख-साधनो की वृद्धि के साथ संसार मे क्लेश की भी वृद्धि हुई है। लोगो को समाचार-पत्र पढ़ने का इतना चस्का है कि कुछ लोग भोजन किये बिना चाहे रह जाएँगे, पर समाचार पत्र पढ़े बिना नही रह सकते। समाचार-पत्र बढ़ने से कलह बढ़ा है या घटा है? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट ही है कि समाचार-पत्रों के द्वारा कलह में वृद्धि हुई है और चंचलता भी बढ़ गई है।

मन की एकाग्रता अत्यावश्यक है। मन एकाग्र किये बिना शान्ति नहीं मिल सकती। अगर एक रात नींद न आवे तो तबीयत कितनी खराब हो जाती है? निद्रा लेना मन की एकाग्रता का विकृत उदाहरण है। मगर निद्रा की कितनी आवश्यकता है, इस बात का विचार करो। जो व्यक्ति चंचलता छोड़कर निद्रा लेता है और इस प्रकार थोड़े समय के लिए तथा विकृत रूप से भी मन को एकाग्र रखता है, वह शरीर को स्वस्थ रख सकता है। जो मनुष्य काम काज में ही लगा रहता है और यथासमय निद्रा नहीं लेता वह बीमार पड़ जाता है। जब विकृत रूप मे भी मन को एकाग्र रखने से इतना अधिक लाभ होता है तो फिर सम्यक् प्रकार से मन को एकाग्र बनाने से कितना लाभ होता होगा!

मन की एकाग्रता से आत्मा को अपूर्व लाभ होता है। लोग यह समझते हैं कि आनन्द कहीं बाहर से आता है, पर वास्तव मे आनन्द बाहर की वस्तुओ में नही है। आत्मा में ही अखूट आनंद भरा हुआ है। आत्मा अपने में से ही आनन्द उपलब्ध करता है। मन को एकाग्र रखने से आत्मा मे आनन्द का स्रोत बहने लगता है। किसी भी वस्तु में जो आनन्द दिखाई देता है, वह आनन्द इसी

कारण आनन्द रूप मालूम होता है कि आत्मा में आनन्द भरा हुआ है। दुनिया की तमाम वस्तुएँ आत्मा के लिए ही हैं। आत्मा न हो तो इन वस्तुओं को कोई टके सेर भी न पूछे। वस्तुओं का मूल्य आंकने वाला आत्मा ही है और इसीलिए कहा गया है—

'न सर्वस्य कामाय प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'

उपनिषद्कार कहते हैं—वस्तु को कोई वस्तु प्रिय नहीं है, आत्मा को ही वस्तु प्रिय लगती है। हीरा, माणिक, मोती वगैरह जो भी पदार्थ प्रिय मालूम होते हैं सो सब आत्मा को ही प्रिय मालूम होते हैं। परन्तु आज कल तो संसार में उत्क्रम चल रहा है। जिस आत्मा को सभी वस्तुएँ प्रिय लगती हैं वही आत्मा आज भुलाया जा रहा है और आत्मा की शक्तियो के विषय में कोई विचार ही नहीं किया जाता। आत्मा में ऐसी महान् शक्ति विद्यमान है कि उसे परतन्त्र रहने की आवश्यकता ही नहीं है। परन्तु आज आत्मा अपने भीतर विद्यमान महान् शक्ति को भूलकर परतंत्र बन रहा है।

कहा जा सकता है कि आज कल का तोता रटंत ज्ञान भी आत्मा की परतंत्रता का कारण है। इस ज्ञान की बदौलत आत्मा दूसरो की सहायता अधिक लेने लगा है और नतीजा यह हुआ है कि वह परतन्त्रता की वेड़ी में बँध गया है। जंगल में रहने वाले पशुओं-पक्षियो को देखो; मालूम होगा कि वे मनुष्यों के समान दूसरों की सहायता नहीं लेते। कहा जा सकता है कि अज्ञान होने के कारण वे दूसरों की सहायता नहीं लेते हैं। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि मनुष्य समाज में जो ज्ञान है वह क्या परतंत्रता बढ़ाने के लिए है? सच्चा ज्ञान तो वही है जो आत्मा को बंधनों से

मुक्त करता है। बंधनो से मुक्त न करने वाला ज्ञान वास्तव मे ज्ञान ही नहीं है। ज्ञान की व्याख्या करते हुए कहा गया है—

'सा विद्या या विमुक्तये।'

अर्थात् सच्ची विद्या वही है जो बंधनो से मुक्त करती है।

तुम लोग आज दूसरों की बहुत सहायता लेते हो, इस कारण तुम में भिखारीपन आ गया है। भिखारी को सुख कहाँ? जब उसे कोई वस्तु नहीं मिलती तो वह दुखी होता है। शास्त्रकार भिखारी की प्रशंसा नहीं करते। शास्त्र तो दूसरों की सहायता लेने वाले को भिखारी कहता है। सच्चा साहूकार वह है जो दूसरो से मिलने वाली सुलभ सहायता का भी परित्याग कर देता है।

स्वतंत्रता चाहने और स्वतंत्रता पाने में बहुत अन्तर है। आज लोग स्वतत्रता चाहते हैं परन्तु उसे पाने के लिए प्रयत्न नही करते। स्वतंत्रता पाने के लिए स्वतंत्रता के मार्ग पर चलना आवश्यक है। स्वावलंबी बनना स्वतंत्रता प्राप्त करने का मुख्य मार्ग है। दूसरों की सहायता की लेशमात्र भी अपेक्षा न रखना ही स्वावलम्बन है।

प्रत्येक स्त्री या पुरुष स्वावलम्बन के मार्ग पर चल सकता है। स्वावलम्बन का राजमार्ग सभी के लिए खुला है। राजीमती स्त्री होने पर भी स्वावलम्बन के राजमार्ग पर चल कर आत्मा को स्वतंत्र बना सकी थी। यही नहीं, वरन् रथनेमि जैसे कर्त्तव्यभ्रष्ट योगी को भी स्वावलम्बन की शिक्षा देकर उसने आत्म-स्वतंत्रता के पथ पर अग्रसर किया था।

स्वतंत्र व्यक्ति ही दूसरों को स्वतंत्रता का संदेश दे सकता है। परावलंबी पुरुष स्वतंत्रता का सदेश नहीं सुना सकता। स्वतंत्रता-देवी का प्रधान द्वार स्वावलंबन है। स्वावलंबी बने बिना स्वतत्र बनना संभव नहीं। इसीलिए भगवान् महावीर ने आत्मा को कर्म-बंधनों से मुक्त करने, स्वतंत्र बनाने के लिए स्वावलबन का आदर्श पाठ जगत् के समक्ष उपस्थित किया था। इस स्वावलंबन के आदर्श का अनुसरण करने में ही देश, समाज तथा धर्म का अभ्युत्थान तथा कल्याण है।

चालीसवाँ बोल ।

भक्तप्रत्याख्यान

शास्त्र में आत्मकल्याण के अनेक मार्ग बतलाये गये हैं। उनमें से एक मार्ग दूसरों की सहायता का त्याग करके स्वावलम्बी बनना भी है। जो स्वावलम्वी बनना चाहता है वह शरीर के अधीन भी रहना पसन्द नहीं करता। जब स्वावलम्बी आत्मा शरीर को अधीनता भी पसन्द नहीं करता तब यह स्वाभाविक ही है कि वह शरीर को पुष्ट करने वाले भोजन का त्याग कर दे। प्राणान्त तक भोजन का त्याग करना अर्थात् अनशन धारण करना साधारण जनता को दुष्कर प्रतीत होगा परन्तु स्वावलम्बी आत्मा के लिए ऐसा करना दुष्कर नहीं सुकर होता है। भोजन का त्याग करने से आत्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय में गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं।

मूलपाठ

प्रश्न—भत्तपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—भत्तपच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरुंभइ ४०

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! भोजन का प्रत्याख्यान करने से अर्थात् अनशन करके संथारा लेने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—भोजन का प्रत्याख्यान करने से जीव सैकड़ों भवों को काट डालता है अर्थात् जीव अल्पसंसारी बनता है !

व्याख्यान

भक्त का सीधा-सादा अर्थ है—भात। 'भाथा' या 'भातु' शब्द भी इसी से बना है। भत्त या भक्त का अर्थ भोजन है। यहाँ भोजन के विषय में ही प्रश्नोत्तर है। आहार के त्याग की बात सुनकर किसी को शंका हो सकती है कि जैनधर्म तो दयाधर्म कहलाता है, फिर इस दयाधर्म में भोजन के त्याग की बात कहना कहाँ तक उचित है ? आहार का त्याग करना तो प्राणों का त्याग करना है। आहारत्याग द्वारा प्राणत्याग के लिए कहना अनुचित ही है। इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार का कथन है कि दूसरे की सहायता का त्याग करने वाला ही आहार का त्याग कर सकता है। जो पुरुष आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न समझता है और इस भेदज्ञान के कारण जिसने शरीर की सहायता का भी त्याग कर दिया है, वही भोजन का त्याग कर सकता है। शास्त्र में कहा है—अपच्छिममरण अर्थात् जब मरण समीप आ जाय तब संथारा अर्थात् अनशनव्रत धारण किया जा सकता है।

मरण दो प्रकार से होता है—आयु के क्षय से और उपसर्ग से। मृत्यु किसी भी प्रकार से हो मगर कुत्ते की मौत मरना उचित नहीं। वीरतापूर्वक मृत्यु का आलिंगन करना चाहिए। वीरतापूर्वक

मृत्यु का आलिंगन करने वाला भोजन के प्रत्याख्यान द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। भोजन का त्याग करके जो मृत्यु को जीतता है, उसी का अपच्छिममरण होता है।

यहाँ भक्तप्रत्याख्यान का अर्थ सम्पूर्ण अनशन करना है। भगवान् ने कहा है कि भोजन का त्याग करने वाला संसार का छेद करता है। शास्त्र में भोजन के प्रत्याख्यान के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह निर्दयता का व्यवहार करने के लिए नहीं वरन् आत्मा के कल्याण के लिए ही कहा गया है। जो व्यक्ति परकीय सहायता का त्याग करता है वही भोजन का त्याग कर सकता है। इस प्रकार आहार का त्याग न करना और आहार-पानी न मिलने के कारण विलाप करते-करते मरना, बारह प्रकार के बालमरणों में से एक बालमरण है। इस प्रकार का मरण, भोजन-पान के त्याग से होने वाला पण्डितमरण नहीं कहा जा सकता। हाँ, असमय में भोजन का त्याग नहीं किया जा सकता। यह तो सब काम कर चुकने के बाद किया जाने वाला काम है। अतएव यह विचार रखना अत्यावश्यक है कि संथारा कब करना और कराना चाहिए ?

संथारा करने का प्रयोजन क्या है ? इस विषय में शास्त्र में बहुत विचार किया गया है। शास्त्र में यह प्रश्न किया गया है कि हे भगवन् ! मरते समय क्या भूखा रहना उचित है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—यह स्थूलदृष्टि का कथन है। सूक्ष्म-दृष्टि से तो मरते समय अनशन करना ही योग्य है। इस प्रकार कह-कर भगवान् ने, संथारा क्यों और कब लिया जाता है, यह बात स्पष्ट करने के लिए मंडूक चोर का उदाहरण दिया है। वह इस प्रकार है :—

शंखपुर में एक चालाक चोर रहता था। वह इस चालाकी से लोगों के घर चोरी करता था कि यह पता लगाना तक कठिन हो जाता था कि चोरी कब और किस प्रकार हुई है? चोरी के कारण प्रजा परेशान हो गई। प्रजा ने बहुत प्रयत्न किया मगर चोर का पता नहीं लगा। किसी के घर का ताला टूटा नहीं, दीवार में सेंध लगी नहीं, फिर भी घर में चोरी हो गई। इस चतुर चोर की चालाकी से प्रजा थक गई। आखिरकार प्रजा इकट्ठी होकर राजा के पास पहुँची। शंखपुर की प्रजा छोटी-छोटी बातों के लिए राजा के पास नहीं पहुँचती थी। अतएव राजा समझ गया कि आज प्रजा पर कोई बड़ी मुसीबत आई दिखाई देती है। इसी कारण लोग मेरे पास आये हैं।

राजा ने प्रजाजनों से पूछा—तुम्हें क्या कष्ट है, स्पष्ट कहो।

प्रजा ने चोर द्वारा चारों ओर फैलाये हुए हाहाकार का वृत्तान्त आदि से अन्त तक कह सुनाया। राजा चोर की चालाकी की बात सुनकर आश्चर्यचकित हो कहने लगा—यह चोर वास्तव में कोई महान् चोर है। खोज करके जल्दी ही उसे पकड़ना चाहिए। चोर को पकड़कर मैं प्रजा का दुःख दूर करने का यथासम्भव प्रयत्न करूँगा। अगर मैं सच्चा राजा हूँ तो अपने प्राणों को होम करके भी सात ही दिन में चोर को पकड़ लूंगा। इस प्रकार कहकर राजा ने प्रजा को आश्वासन दिया।

आज ऐसे प्रजाप्रेमी नरेश बहुत कम नज़र आते हैं जो प्रजा के दुःख को अपना दुःख समझकर उसे दूर करने का प्रयत्न करते हैं। प्रजाप्रिय राजा, प्रजा की रक्षा के लिए अपने प्राण भी निछावर कर देता है।

राजा ने चोर को पकड़ने की प्रतिज्ञा की है, यह बात चारों ओर नगर भर में फैल गई। मंडूक चोर ने भी राजा की प्रतिज्ञा की बात सुनी। वह विचार करने लगा—राजा ने प्राण का भोग देकर भी मुझे पकड़ने की प्रतिज्ञा की है। अब मेरा बचना कठिन है। फिर भी मुझे तो राजा के पंजे से बचने का ही प्रयत्न करना चाहिए। वीर पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह पराजित भले ही हो जाय मगर पुरुषार्थ का त्याग न करे। मुझे सावधानी के साथ काम करना चाहिए और पुरुषार्थ नहीं त्यागना चाहिए। पुरुषार्थ छोड़कर बैठ रहना कायरता है।

चोर का पता लगाने के लिए राजा भेष बदलकर शहर में निकला। इधर चोर भी अपना भेष बदलकर यह देखने के लिए निकला कि देखें, राजा क्या करता है? चोर पैर में पट्टी बाँधकर, हाथ में लाठी लेकर, बीमार दरिद्र की तरह शहर में घूमने निकला। राजा ने मंडूक चोर को इस भेष में देखा। मंडूक चोर की आँख देखते ही राजा मन मे समझ गया कि चोर यही है। परन्तु जब तक प्रमाण द्वारा अपराध साबित न हो जाय तब तक उसे दण्ड नहीं दिया जा सकता। दोनों एक-दूसरे के सामने आये और आपस में पूछने लगे—'तुम कौन हो?' किसी ने अपना परिचय नहीं दिया। अन्त मे चोर ने कहा—मैं कौन हूँ, यह जानने की तुम्हे क्या आवश्यकता है? तुम अपना काम करो, मैं अपना काम करता हूँ। चोर के इस कथन का आशय राजा ने यह समझा कि चोर ठीक ही कह रहा है कि 'मै चोर हूँ। चोरी करने जाता हूँ। तुम राजा हो तो मुझे पकड़ लो।'

इस प्रकार विचार कर राजा वहाँ से चलता बना। जाते-जाते राजा ने यह भी निश्चय कर लिया कि चोर सामने के पहाड़ मे रहता है और इस रास्ते से शहर मे आता है।

दूसरे दिन राजा ने भिखारी का भेष बनाया। वह उसी रास्ते पर चुपचाप बैठ गया, जिस रास्ते से चोर आया-जाया करता था। चोर भी भेप बदल कर शहर में आया। रात अन्धेरी थी भिखारी के भेष में पड़े हुए राजा पर उसकी निगाह न पड़ी। अत चोर के पैर से राजा को ठोकर लग गई। ठोकर लगते ही वह चिल्ला उठा। चोर ने पूछा—तू कौन है ?

राजा ने कहा—'मैं गरीब भिखारी हूँ। रहने को कहीं जगह नहीं। इसलिए यहाँ पड़ा हूँ।'

चोर बड़ा ही चालाक था। समझ गया, यही राजा है उसने सोचा—किसी भी उपाय से राजा को नष्ट किया जा सके तो फिर कोई आफत ही न रहे।

चोर बोला—क्या इस तरह रास्ते मे पड़े रहने से तेरा दुःख दूर हो जायगा ?

राजा—इस तरह पड़े रहने से दुःख दूर नहीं होगा। दुःख तो तुम्हारे जैसे की सगति से दूर हो सकता है।

चोर—तू मेरे साथ चल। मैं तेरा दुःख दूर करूँगा।

राजा ने चोर के साथ जाना कबूल किया। राजा साथ हो लिया। दोनों एक-दूसरे को मार डालने की घात में थे, इस कारण दोनो ही सावधान थे।

चोर ने चोरी की। धन आदि की दो पेटियाँ भरीं। फिर राजा से कहा—एक पेटी तू उठा ले। पर देखना, भाग मत जाना

राजा—नहीं, मै भागूँगा क्यो ?

चोर—तो ठीक। चल। आगे चल। मै तेरे पीछे-पीछे चलता हूँ।

राजा—'तुम्हे कहाँ जाना है, सो मुझे मालूम नहीं। अतएव आगे तुम चलो। मैं पीछे-पीछे चलूँगा।

चोर—ठीक है। तू पीछे ही चलना। मगर तू कहीं भाग न जाय, इसलिए तुझे रस्सी से बाँध लेता हूँ।

चोर ने राजा को रस्सी से बाँध लिया। चोर आगे-आगे चलने लगा। राजा चोर नहीं था। फिर भी मंडूक चोर ने राजा को चोर की तरह बाँध लिया।

राजा को साथ लेकर चोर घर आया। मंडूक चोर ने अपनी लड़की को पास बुलाकर कहा—मैं एक आदमी को साथ लाया हूँ। वह मेरे व्यवसाय मे विघ्न डालता है। किसी उपाय से उसे मार डालना है।

पुत्री ने कहा—आपकी आज्ञा के अनुसार सब काम हो जायगा।

लड़की तब राजा के पास पहुँची। बोली—भोजन तैयार है, जीमने चलो।

राजा ने मन ही मन कहा—भोजन करने जाना तो चाहिए, मगर भोजन करते समय सावधान रहना होगा। इस समय मैं चोर के घर में हूँ।

राजा ने लड़की से कहा—पहले तुम जीम लो। तुम्हारे जीमने के बाद मैं भोजन करूँगा। मैं भिखारी हूँ, फिर भी इतनी सभ्यता जानता हूँ। जब तक घर वाले न जीम लें, मैं कैसे जीम सकता हूँ?

राजा की बात सुनकर लड़की समझ गई—यह भिखारी नहीं है। दरअसल भिखारी होता तो ऐसा न कहता, वरन् खाने बैठ जाता।

चोर की कन्या ने राजा से कहा—अगर तुम सभ्य हो तो भोजन से पहले स्नान करना चाहिए।

राजा—अगर यह नियम है तो इसका पालन करना मेरा कर्त्तव्य है।

चोर-कन्या राजा को स्नान कराने के लिए कुए पर ले गई। चोरकन्या का यह नियम था कि वह जिसे स्नान कराने कुए पर ले जाती, उसके पैर पकड़ कर कुए में फैंक देती थी। राजा को कुए में डालने के लिए उसने राजा के पैर पकड़े। पर राजा के सुलक्षण युक्त पैर देखकर वह सोचने लगी–यह तो कोई महापुरुष है। पैर के चिह्नों से मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर का हाल मालूम हो जाता है। इस कथन के अनुसार चोरकन्या ने राजा के लक्षणयुक्त पैर [देख]कर विचार किया–यह कोई महान् पुरुष है। ऐसे महान् पुरुष [को] पिताजी मार डालना चाहते हैं, यह उचित नहीं है।

चोरकन्या कहने लगी–मेरे पिता अत्यन्त क्रूर हैं। वे तु[म्हें] मार डालना चाहते हैं। मैं तुम्हारे लक्षणयुक्त पैर देखकर समझ ग[ई] हूँ कि तुम राजा हो। मैं तुमसे यही कहना चाहती हूँ कि अग[र]

अपने प्राण बचाना चाहते हो तो इस रास्ते से जल्दी भाग जाओ। वर्ना तुम्हारे प्राणों की खैर नहीं।

राजा ने चोरकन्या की बात मान ली। वह उसके बताये मार्ग से भाग निकला। राजा जब दूर जा पहुँचा तो चोरकन्या ने मंडूक को आवाज़ दी। कहा-वह भिखारी तो भाग गया।

भिखारी के भागने का समाचार पाते ही मंडूक की आँखें लाल हो गईं। कंक नामक पत्थर से बनाई गई तीखी तलवार लेकर वह राजा के पीछे दौड़ा। तलवार इतनी तीखी थी कि जिस चीज़ पर उसका प्रहार हुआ, तत्काल उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाते थे।

चोर ने दूर से ही राजा पर तलवार का प्रहार किया। मगर वह प्रहार पत्थर के खंभे पर जा लगा। खंभा टुकड़े-टुकड़े होकर गिर पड़ा। राजा बड़ी कठिनाई से बच सका। चोर समझ गया-राजा बच गया है और खंभा टुकड़े-टुकड़े हो गया है।

चोर निराश होकर घर लौट आया। उसने अपनी कन्या से कहा-राजा धोखा देकर भाग गया। वह अपने घर की छिपी बातें जान गया है। अब हमें बहुत होशियारी के साथ रहना चाहिए।

चोरकन्या ने कहा-पिताजी ! जान पड़ता है, अब आपके पापों का घड़ा भर गया है।

मंडूक ने क्रुद्ध होकर कहा-क्यों अपशकुन की बात मुँह से निकालती है ?

चोरकन्या—पाप का अन्त होने में बुराई क्या है, पिताजी!

लड़की की बात मंडूक को बहुत बुरी लगी। फिर भी वह मौन रहा।

दूसरे दिन चोर व्यापारी बनकर शंखपुर के बाजार में क्रय-विक्रय करने आया। इधर राजा भी वेष बदल कर चोर की फिराक में शहर मे घूमने लगा। घूमता-घूमता राजा उसी दुकान पर आ पहुँचा, जहाँ चोर व्यापारी के रूप में क्रय-विक्रय कर रहा था। राजा, चोर व्यापारी को देखते ही पहचान गया। राजा ने पूछा—'तुम क्या बेचने आये हो ? तुम्हारे पास क्या है ?

चोर—हमारे पास सभी कुछ है। तुम्हे क्या चाहिए ?

राजा—भाई, मुझे और कुछ नहीं चाहिए। सिर्फ तुम्हारी आवश्यकता है।

चोर—मेरा क्या काम है ?

राजा—तुम चोर हो, इसीलिए तुम्हारी जरूरत है।

चोर—मै साहूकार हूँ। कौन मुझे चोर कहता है ?

राजा—तुम्हारे चोर या साहूकार होने का निर्णय अभी हो जायगा। तुम्हारे चोर होने की खातिरी मैंने तो पहले से ही कर रखी है।

आखिरकार राजा ने चोर को पकड़ लिया। चोर विचार करनें लगा-मुझे पकड़ने वाला कोई मामूली आदमी नहीं है। राजा ने मुझे पकड़ा है। मुझे सख्त सजा मिलेगी।

राजा बोला-अब तुम पकड़े जा चुके हो। कहो अब तुम्हे क्या करना है ?

चोर बोला—जो आप कहे, वही करने को तैयार हूँ।

राजा—सब से पहले तुम अपनी कन्या का मेरे साथ विवाह कर दो।

चोर—ठीक है। यह कह कर उसने प्रसन्नतापूर्वक अपनी कन्या राजा को ब्याह दी।

राजा ने चोरकन्या से कहा—तुमने मेरे शरीर की रक्षा की थी। अब यह शरीर मैं तुम्हारे सिपुर्द करता हूँ।

चोरकन्या बोली—नाथ, आप उदार हैं, इसी से ऐसा कहते हैं। मैं तो वास्तव में चोर की कन्या हूँ। मैं आपके सन्मान के योग्य नहीं। आपने मेरा सन्मान करके मुझ पर उपकार किया है।

राजा—अब तुम्हे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। तुम्हारे पिता अब मेरे सुसर हैं। मैं उनका भी सन्मान करूँगा और गौरव बढ़ाऊँगा।

राजा ने मंडूक चोर को प्रधान मन्त्री बना दिया। जब यह बात नगर मे फैली तो सभी लोग राजा को धिक्कारने लगे। राजा इसके लिए तैयार था। वह जानता था कि पहलेपहल लोग मेरे इस कार्य से अप्रसन्न होंगे। मगर जब इसका नतीजा सुनेंगे तो प्रसन्न हुए विना नहीं रहेंगे।

राजा चोर-प्रधान को धमकाकर या समझा-बुझाकर चोरी के रत्न निकलवाता रहता था। उसके पास अभी कितने रत्न है, यह बात राजा चोरकन्या अर्थात् अपनी पत्नी से मालूम कर लेता और फिर उन्हे किसी उपाय से निकलवा लेता। इस प्रकार कभी धमकी देकर और कभी फुसलाकर राजा ने चोर-प्रधान के पास से सभी

रत्न निकलवा लिए। जब उसके पास कुछ भी शेष न रहा तब राजा ने नगर-जनों को बुलाया और कहा—यह प्रधान नहीं, चोर है। चोर से सब रत्न निकलवाने के उद्देश्य से ही मैंने इसे प्रधान बनाया था। अब इसके पास कुछ बाकी नहीं रहा। अतएव चोरी करने के अपराध में इसे फाँसी की सजा दी जाती है।

चोरी गये सब रत्न राजा ने वापिस कर दिए। प्रजाजन राजा की बुद्धिमत्ता और चतुराई की प्रशंसा करने लगे। राजा-प्रजा में प्रेम की वृद्धि हुई। राज्य का अच्छी तरह संचालन होने लगा।

यह एक दृष्टान्त है। साधुजीवन पर यह दृष्टान्त दिया गया है। इस दृष्टान्त से क्या सार ग्रहण करना चाहिए, यह विचारणीय है।

साधु के लिए कहा गया है कि यह शरीर मंडूक चोर के समान है। बुद्धि शरीररूपी चोर की कन्या है। शरीर यद्यपि चोर के समान है, फिर भी अनेक रत्न इसके कब्जे में है। इस शरीर के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। हे मुनियो! तुम्हारे शरीर में रहा हुआ आत्मा राजा है। शरीर चोर है और बुद्धि चोरकन्या है। मनुष्य में जैसी बुद्धि है, वैसी और प्राणियों में नहीं है। आत्मारूपी राजा शरीररूपी चोर के घर में आया है। आत्मारूपी राजा खान-पान के प्रलोभन में न पड़कर बुद्धिरूपी चोर कन्या को पहले खिला-कर ही आप खाता है। अर्थात् शास्त्र में खान-पान सम्बन्धी जो विधि बतलाई गई है, बुद्धि द्वारा उसका निर्णय करने के बाद ही खाता है। इस प्रकार बुद्धि द्वारा निर्णय करके जो खाता है, वही आत्मारूपी राजा है। बुद्धिरूपी चोरकन्या आत्मा-राजा को पैर पकड़कर कुए में डाल देना चाहती है, पर आत्माराजा के लक्षणयुक्त

चरण देखते ही वह उसे महान् समझकर बचा देती है। चरण का अर्थ पैर भी है और आचरण भी है। जब बुद्धि के हाथ चरण आता है और वह उसके अच्छे लक्षण देखती है, तब कहती है—ऐसे पुण्यात्मा को कूप मे पटकना ठीक नही। इस प्रकार बुद्धिरूपी चोर-कन्या आत्माराजा को मुक्त होने का मार्ग बतलाती है और आत्मा-राजा उस मार्ग पर चलकर मुक्त हो जाता है। जब आत्मा-राजा संसार के पदार्थों का ममत्व तजकर भाग जाता है तो काम, क्रोध, मान, लोभ रूपी चोर वासनावृत्ति की तलवार हाथ में ले आत्मा के पीछे दौड़ता है। वासनावृत्ति रूपी तलवार बहुत तीखी है। यह तलवार जिस पर पड़ती है उसका जीवन नष्ट हो जाता है।

आत्मा-राजा सावधान होने के कारण वासनावृत्ति रूपी तलवार के प्रहार से कुशलतापूर्वक बच गया और राजमहल मे आकर चोर को पकड़ने का उपाय सोचने लगा। गहरा विचार करने के बाद राजा, चोर को भर बाजार में से पकड़ लाता है। चोर के पास से रत्न निकलवाने के लिए वह युक्ति से काम लेता है। वह सब से पहले बुद्धिरूपी चोरकन्या के साथ लग्न-सम्बन्ध जोड़ता है और चोर को प्रधान बनाता है। तत्पश्चात् विविध उपायो द्वारा चोर के कब्जे मे जो रत्न थे, उन्हें अपने अधिकार में करता है। राजा शरीर-चोर से रत्न निकलवाने के लिए ही उसे प्रधान बनाता है। चोर को प्रधान बनाने से प्रजा, राजा की निन्दा करने लगी थी, उसी प्रकार कुछ लोग यह कहकर साधुओ की निन्दा करते है कि साधु हो जाने पर भी इन्हें खाने और कपड़ा पहनने की क्या आवश्यकता है? परन्तु साधु-आत्मा लोगों की निन्दा की परवाह न करके शरीर-चोर के कब्जे मे से ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्न लेने के लिए शरीर-चोर को आदर देते हैं। जब आत्मा को बुद्धि द्वारा

मालूम होता है कि अब शरीर-चोर के पास एक भी रत्न शेष नहीं रहा तब साधु-आत्मा शरीर-रूपी चोर को संथारारूपी शूली पर चढ़ा देता है और आप स्वावलम्बी बन जाता है। स्वावलम्बी आत्मा-रूपी राजा ही प्रजा को स्वावलम्बी बना सकता है। जब तक नायक स्वयं स्वावलम्बी नहीं बन जाता तब तक वह जनसमाज को कैसे स्वावलम्बी बना सकता है ?

इस कथा का सार यह है कि महावीर भगवान् ने भक्त (भोजन) के त्याग के विषय में जो कुछ कहा है, वह निर्दयता से नहीं वरन् आत्मा के कल्याण के लिए कहा है। पर संथारा करने और कराने मे विवेक की खास आवश्यकता है। अगर संथारा करने-कराने में विवेक से काम न लिया जाय तो जैनधर्म का उद्योत नहीं होता। जब संसार के पदार्थों पर ममता नहीं रहती और सांसारिक पदार्थों की जरा भी सहायता नहीं ली जाती, तभी भोजन का त्याग करके संथारा लिया जा सकता है। आत्मा की पूर्व तैयारी के बिना संथारा लिया जाय तो मृत्यु पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती। यही नहीं, वरन् आत्मा का घात होता है। संथारा तो मृत्यु को जीतने का एक श्रेष्ठ साधन है। मृत्यु को आह्वान करना साधारण आत्मा का काम नहीं। जो आत्मा ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र का बल पाकर बलिष्ठ और निर्भय बन चुका है, वही बल-वान् आत्मा भोजन का त्याग करके मृत्यु का आह्वान कर सकता है। वही मृत्यु को जीत सकता है। शरीर का प्रत्याख्यान करने के साथ ही भोजन का प्रत्याख्यान किया जा सकता है।

भगवान् ने आत्मकल्याण करने के लिए जो कुछ कहा है; उसे निःशंक होकर सत्य समझो और उसी ध्रुवसत्य के अनुसरण का प्रयत्न करो। आत्मकल्याण के लिए सर्व प्रथम स्थूल पाप का

त्याग करो। स्थूल पाप का थोड़ा-सा त्याग करने पर सूक्ष्म पाप का भी त्याग कर सकोगे। स्थूल पाप त्यागे बिना सूक्ष्म पाप का त्याग नहीं हो सकता। यह बात स्पष्ट होने पर भी कितने ही लोग स्थूल पाप का त्याग करने से पहले सूक्ष्म पाप को त्यागने दौड़ते हैं। उदाहरणार्थ—जो पुरुष स्त्रीसंग का त्याग नहीं कर सकता वह पहले परस्त्री का त्याग करेगा या स्वस्त्री का? मगर आज तो उलटी गङ्गा बह रही है। लोग स्वस्त्री के साथ कपट करके परस्त्री को स्वीकार करते हैं। क्या यह विपरीत काम नहीं है? विपरीत काम का फल विपरीत ही होता है। अतएव प्रत्येक कार्य विवेकपूर्वक करो। विवेकपूर्वक कार्य करने से ही स्व का और पर का कल्याण कर सकते हो।

४५

एकतालीसवां बोल।

सद्भाव-प्रत्याख्यान

आहार-त्याग से होने वाले लाभ के विषय मे प्रश्न करने के बाद अब गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से सद्भाव अर्थात् समस्त योगों का निरोध रूप क्रिया मात्र का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय मे प्रश्न करते हैं।

मूलपाठ

प्रश्न—सब्भावपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—सब्भावपच्चक्खाणेणं अनियट्टिं जणयइ, अनियट्टिपडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ, तंजहा-वेयणिज्जं, आउयं, नामं, गोयं; तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्व दुक्खाणमन्तं करइ ॥४१॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! सद्भाव का अर्थात् समस्त योगों को रोकने रूप क्रिया मात्र का त्याग करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

उत्तर—वृत्ति मात्र का त्याग करने से जीवात्मा अनिवृत्तिकरण पाता है और अनिवृत्तिकरण को प्राप्त अनगार केवली होकर बाकी बचे हुए चार (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र) कर्मांशों को खपाता है और फिर सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होकर शान्त हो जाता है और सब दुखों का अन्त करता है।

व्याख्यान

इस प्रश्न पर ऊहापोह करते हुए टीकाकार कहते है—यह प्रत्याख्यान सभी प्रत्याखानो में प्रधान है। यह प्रत्याख्यान अन्तिम अवस्था का है—चरम सीमा का है। और प्रत्याख्यान तो एक बार करने के बाद फिर भी करने पड़ते हैं; परन्तु यह ऐसा प्रत्याख्यान है कि एक बार करने के बाद फिर कभी इसे करने की आवश्यकता ही नहीं होती। इसी कारण यह प्रत्याख्यान सब प्रत्याख्यानों में प्रधान स्थान रखता है।

इस प्रत्याख्यान का नाम सद्भाव प्रत्याख्यान है। सद्भाव का प्रचलित सामान्य अर्थ 'अच्छा भाव' होता है। परन्तु यहाँ यह प्रचलित अर्थ नहीं लिया गया है। यहाँ सद्भाव का अर्थ 'परमार्थभूत' किया गया है। जिस प्रत्याख्यान को एक बार स्वीकार कर लेने पर फिर दूसरी बार कभी कोई प्रत्याख्यान नहीं लेना पड़ता, उस परमार्थभूत प्रत्याख्यान को सद्भावप्रत्याख्यान कहा है।

गौतम स्वामी ने इस सद्भावप्रत्याख्यान के विषय में ही प्रश्न किया है। सद्भावप्रत्याख्यान से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में महावीर भगवान् ने कहा है—सद्भावप्रत्याख्यान करने से जीवात्मा अनिवृत्तिभाव प्राप्त करता है। जो अनिवृत्तिभाव प्राप्त करता है अर्थात् शुक्लध्यान की चौथी श्रेणी पाता है वह शेष कर्मांशो अर्थात् वेदनीयकर्म, आयुकर्म,नामकर्मतथा गोत्रकर्म का क्षय करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो तथा परिनिर्वाण को प्राप्त करके समस्त दुःखों का अन्त करता है। वह अन्तकृत बन जाता है।

यह मूल प्रश्न का उत्तर है। अब इस उत्तर के विषय में विशेष विचार करने की आवश्यकता है। यह प्रश्न चौदहवें गुणस्थान से सम्बन्ध रखता है, अतएव बहुत गम्भीर है। परमार्थभूत-सद्भाव-प्रत्याख्यान करने के बाद और कोई प्रत्याख्यान करना शेष नहीं रहता। यह अन्तिम दशा का प्रश्न है। उदाहरणार्थ—कोई पुरुष पहाड़ पर चढ़ने लगा। चढ़ते-चढ़ते वह अन्तिम शिखर तक पहुँच गया। इस अन्तिम शिखर तक पहुँच जाने वाले मनुष्य के विषय में यही कहा जा सकता है कि उसे जहाँ तक चढ़ना था, चढ़ चुका है। इस प्रकार शिखर पर चढ़ने वाला जब छोटी-छोटी टेकरियों को लांघ चुका तभी वह वहाँ पहुँच सका है। अब वह अन्तिम शिखर तक पहुँच गया है। अब उसे कुछ लांघना बाकी नहीं रहा। इसी प्रकार सद्भावप्रत्याख्यान भी चरम सीमा का प्रत्याख्यान है। मान लो, कोई मनुष्य अनाज का ढेर तोलता है। तोलते-तोलते जब कुछ बाकी नहीं रहता, सब तुल जाता है तब तोल की अंतिम धारणा को चरम धारणा कहते हैं। इसी प्रकार जब एक के बाद दूसरा प्रत्याख्यान करते करते त्याग चरम सीमा पर आता है तब सद्भाव का प्रत्याख्यान किया जाता है। यह सद्भावप्रत्या-

ख्यान करने के बाद किसी भी प्रकार का त्याग करना शेष नहीं रहता। बस यही त्याग अन्तिम त्याग होता है।

भगवान् ने चौदह गुणस्थान बतलाये हैं। गुणस्थान अर्थात् आत्मिक गुणो का विकासक्रम। इन चौदह गुणस्थानों में से पहला गुणस्थान (मिथ्यात्व) तो सभी को भोगना पड़ता है अथवा सभी ने भोगा है और बहुत से भोग रहे हैं, क्योंकि यह प्राथमिक भूमिका है। जीवात्मा जब इस प्राथमिक भूमिका का अतिक्रमण करता है तभी वह ऊर्ध्वगामी बनता है।

दूसरे गुणस्थान में जाने के विषय में शास्त्र में कहा गया है कि जीव पहले गुणस्थान से सीधा दूसरे गुणस्थान में नहीं जाता। पहला गुणस्थान छूटते ही जीव प्रायः चौथे गुणस्थान में पहुँचता है। वहाँ सम्यग्दृष्टि हो जाता है। फिर सम्यक्त्व से गिरते समय दूसरे गुणस्थान में आता है। जैसे वमन होने के बाद मुँह में थोड़ी देर तक उस वस्तु का स्वाद रहता है, अथवा वृक्ष से गिरते समय फल थोड़ी देर तक बीच में रहता है, इसी प्रकार की सास्वादन अवस्था है। (सम्यक्त्व से भ्रष्ट होने के बाद और मिथ्यात्वदशा में पहुँचने से पहले की अवस्था को दूसरा सास्वादन गुणस्थान कहते हैं।)

तीसरा मिश्र गुणस्थान है। इस गुणस्थान में आने वाला जीव भेदभाव नहीं मानता। वह सबको समान समझता है। यद्यपि यह गुणस्थान दूसरे गुणस्थान से नम्बर में ऊँचा है, परन्तु इस गुणस्थान मे मिश्र-संदिग्ध अवस्था रहती है। शास्त्रकार मिश्र अवस्था को भी अज्ञानावस्था ही कहते हैं, क्योंकि तीसरे गुणस्थान वाला जीव सत्य-असत्य का विवेक नही कर सकता। जो पीला सो सोना

और जो सफेद सो दूध, ऐसा मानने से कभी धोखा खाने का अवसर आ जाता है। यह सच है कि सोना पीला होता है और दूध सफेद होता है, मगर सोना पीला होने के कारण सभी पीली वस्तुएँ सोना नहीं कहला सकतीं। इसी प्रकार दूध सफेद होता है, एतावता सभी सफेद वस्तुएँ दूध नहीं कही जा सकतीं। तीसरे गुणस्थान में जीव सब देवों, सब गुरुओं और सब धर्मों को समान समझता है, यही उसका अज्ञान है। सत्य और असत्य की परख न कर सकने का कारण उसका अज्ञान ही है। इसी अज्ञान के कारण तीसरे गुणस्थान की अवस्था अज्ञानावस्था कहलाती है।

जब आत्मा अपने गुण का थोड़ा-बहुत विकास करता है, तब वह चौथे गुणस्थान मे आता है। इस गुणस्थान में आने पर उसे हेय और उपादेय का विवेक हो जाता है। जब आत्मा को यह विवेक हो जाता है कि कौनसी वस्तु हेय अर्थात् त्यागने योग्य है, कौनसी वस्तु उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है और कौन वस्तु उपेक्षा करने योग्य है, तभी शास्त्रकार उसे ज्ञानी कहते हैं। इस अवस्था मे सम्यक्त्वी जीव के ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का क्षय नहीं हो जाता परन्तु दर्शनमोहनीय कर्म का क्षयोपशम होने से वह वस्तुस्वरूप को यथातथ्य जानने लगता है। फिर भी चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने से वह अपने ज्ञान को सक्रिय रूप नहीं दे सकता। सम्यग्दृष्टि जीव को देव, गुरु और धर्म में कौन सत्य है और कौन असत्य है, ऐसी विवेकबुद्धि तो उत्पन्न हो जाती है परन्तु चारित्रमोहनीय के उदय के कारण वह अपने ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं कर सकता।

प्रश्न किया जा सकता है कि सभी बातों का निर्णय अगर बुद्धि द्वारा ही होता है तो फिर श्रद्धा की क्या आवश्यकता है? इस

प्रश्न का उत्तर यह है कि बुद्धि को सम रखना अर्थात् विवेकबुद्धि को प्रकट करना ही श्रद्धा है। श्री आचारांग सूत्र में भी कहा है :—

'समयं ति मन्नमाना एगया समया वा असमया वा समया होंति त्ति उविहाए। असमयं ति मन्यमाना एगया समया वा असमया वा होंति त्ति उविहाए।'

भावार्थ—किसी मनुष्य में भले ही अधिक बुद्धि न हो, फिर भी उसकी थोड़ीसी बुद्धि भी अगर निष्पक्ष अर्थात् सम हो तो उस मनुष्य के लिए सभी वस्तुएँ सम बन जाती है। फिर भले ही कोई वस्तु विषम हो तो भी समबुद्धि वाले को सम वस्तु द्वारा मिलने वाला लाभ मिल ही जाता है। उदाहरणार्थ—कोई साधु महाराज किसी के घर गोचरी के लिए गए। उन्होंने अपनी बुद्धि के अनुसार आहार-पानी के विषय में निर्णय कर लिया। साधु महाराज समबुद्धिपूर्वक निर्दोष आहार-पानी लेते हैं। परन्तु कदाचित् आहार-पानी दूषित होने पर भी साधु की समबुद्धि में वह निर्दोष मालूम हुआ हो और निर्दोष समझकर ही उसे ग्रहण किया हो, तो भी समबुद्धि के कारण साधु को दूषित आहार लेने का दोष नहीं लग सकता। यह ज्ञानी पुरुषों का कथन है। इसका कारण यह है कि उस साधु में समभाव है और अपनी समबुद्धि से वह आहार को निर्दोष समझता है। अतएव उसे निर्दोष आहार का ही फल प्राप्त होता है। छद्मस्थ साधु अपनी बुद्धि के अनुसार ही किसी बात का निर्णय कर सकता है। वह आहार अगर सदोष है तो सर्वज्ञ की दृष्टि में है, साधु की दृष्टि में तो वह निर्दोष ही है। अतएव साधु को कोई दोष नहीं लग सकता।

इसके विपरीत, कोई साधु गोचरी के लिए गया। उसने सोचा—'यदि आहारपानी के विषय में पूछताछ करूँगा और वह आहार-पानी दूषित ठहरेगा तो मैं उसे ले नहीं सकूंगा। परिणाम यह होगा कि मैं आहारपानी से वंचित रह जाऊँगा। अतएव पूछताछ न करना ही उचित है।' इस प्रकार विषम बुद्धि वाले साधु के लिए निर्दोष आहार भी दूषित होता है।

कहने का आशय यह है कि अगर अपना हृदय शुद्ध और बुद्धि सम हो तो विषम वस्तुओं का लाभ भी सम वस्तुओं जैसा और सम वस्तुओं जितना ही मिलता है। इससे विपरीत, हृदय अशुद्ध और बुद्धि विपरीत होगी तो सम वस्तुओ का परिणाम विषम वस्तुओं जैसा ही विपरीत होगा।

उपर्युक्त कथन का आशय यह है कि अपनी बुद्धि सम रखनी चाहिए। प्रत्येक बात का समबुद्धिपूर्वक अर्थात् विवेक के साथ विचार करने से ही आत्मा को यथेष्ट लाभ मिलता है। ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि प्रत्येक बात तीन कारणों से की जाती है—एक आत्मोन्नति करने के लिए, दूसरे किसी के साथ व्यवहार करने के लिए और तीसरे वस्तुस्वरूप समझने के लिए। ज्ञानी पुरुष आगे कहते हैं—अगर वस्तुस्वरूप समझना हो तो वह सात नयो द्वारा समझना चाहिए। सात नयो द्वारा और सप्तभंगी द्वारा ही वस्तु का ठीक-ठीक स्वरूप समझा जा सकता है। सात नयों द्वारा वस्तुस्वरूप किस प्रकार समझा जाता है, यह जानने के लिए विचार करो कि इस समय निगोद के जीव किस स्थिति में हैं? जीव निगोद-अवस्था में भले हो, मगर किसी अपेक्षा से सिद्ध कहा जा सकता है और चौदहवें गुणस्थान में स्थित आत्मा को अपेक्षाभेद से संसारी भी कहा जा सकता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का स्वरूप सात नयों

द्वारा समझना चाहिए। आत्मकल्याण करने के लिए शब्दादिक नयो का अवलम्बन करना चाहिए और पारस्परिक व्यवहार के लिए शुद्ध व्यवहार से काम लेना चाहिए। साधारणतया आरोप और विकल्प से भी वस्तु का स्वरूप समझा जा सकता है, परन्तु वस्तु का आन्तरिक और बाह्य स्वरूप भलीभाँति जानने के लिए सात नयों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। सात नय, सप्तभगी, निक्षेप आदि द्वारा वस्तुस्वरूप समझने का प्रयत्न करने पर भी वस्तुस्वरूप समझ मे न आवे तो हृदय मे ऐसा विश्वास रखना चाहिए कि वीतराग जिन भगवान् ने जो कुछ भी कहा है, वह सत्य ही है। इस प्रकार जिन भगवान् के वचन में श्रद्धा रखने से भगवान् की आज्ञा का आराधक बना जा सकता है।

कहने का आशय यह है कि आत्मकल्याण करने के लिए इस प्रकार विचार करना चाहिए कि—'मुझ में अनन्त सामर्थ्य है। मगर उस सामर्थ्य पर कर्मों का आवरण आ जाने से वह प्रच्छन्न हो गई है। जब कर्म-आवरण दूर हो जाएँगे तो आत्मा के लिए कोई भी कार्य असंभव नहीं रह जायगा।' भक्त जन इस प्रकार विचार करके ही परमात्मा की प्रार्थना करते हैं कि—'हे प्रभो! तेरे नाम मे बहुत महिमा छिपी है। एक बार भी अगर तेरे नाम का शब्दनय द्वारा उच्चारण किया जाय और तेरे नाम पर अविचल श्रद्धा हो तो मेरी संग्रहनय की शक्ति भी एवंभूत बन सकती है।'

संग्रहनय की शक्ति भी एवंभूत बन सकती है, परन्तु उसके लिए प्रबल पुरुषार्थ और सक्रिय प्रयत्न करने की आवश्यकता है। क्रमशः प्रयत्न और पुरुषार्थ करने से आत्मा मे संग्रहनय की दृष्टि से रही हुई शक्ति भी एवंभूत बन जाती है। कोई मनुष्य पहाड़ पर चढ़ने के लिए छलांग मारना चाहे तो वह नीचे गिरेगा, अगर सीढ़ी

दर सीढ़ी चढ़ेगा तो पहाड़ के अन्तिम शिखर तक पहुँच जाएगा। इसी प्रकार क्रमपूर्वक आत्मा के गुणों का विकास करने से आत्मा चौदहवें गुणस्थान पर पहुँच सकता है।

शुद्ध संग्रहनय की दृष्टि से सब आत्मा एक हैं। यद्यपि आत्माओं में विकसित, अविकसित और अर्धविकसित ऐसे भेद हैं, परंतु शुद्ध संग्रहनय की दृष्टि से सब आत्माएँ एक हैं। उदाहरणार्थ-मिट्टी से घड़ा, सुराही आदि अनेक वर्तन बनते हैं परन्तु मिट्टी की दृष्टि से तो भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले वर्तन भी समान ही हैं। इसी प्रकार आत्मतत्त्व की दृष्टि से सब आत्माएँ एक हैं। मिट्टी के भिन्न-भिन्न पदार्थ भी संग्रह की दृष्टि से—मिट्टी रूप से-एक हैं, उसी प्रकार जीवात्मा भिन्न भिन्न होने पर भी संग्रहनय की दृष्टि से एक हैं। यही बात दृष्टि मे रखकर श्री स्थानांगसूत्र में कहा है—'एगे आया।' अर्थात् आत्मा एक है। वेदान्त में भी इसी बात की पुष्टि की गई है :—

वाचारम्भणो विकारं मृत्तैकवसताम्।

अर्थात्—घड़ा, सुराही आदि जो वचन बोले जाते हैं, वे मिट्टी के विकार होने के कारण ही बोले जाते हैं। वास्तव मे तो यह सब भिन्न-भिन्न वर्तन मिट्टी से ही वने हैं।

इसी प्रकार सिद्ध और संसारी आदि भेद विकार के कारण हैं। शुद्ध संग्रहनय की दृष्टि से तो वास्तव में सब आत्मा समान ही हैं।

इस कथन के आधार पर हमें यह सोचना चाहिए कि हमें मिट्टी के समान ही रहना उचित है अथवा अपने जीवन को विशेष

उन्नत बनाना चाहिए ? जब तक मिट्टी से घट नहीं बनता तब तक वह मिट्टी मस्तक पर धारण नहीं की जाती। यही नहीं, घड़ा बनने से पहले मिट्टी पैरों तले रौंदी जाती है। पर जब मिट्टी से घड़ा बन जाता है तब वही मस्तक पर धारण की जाती है। इसी प्रकार आत्मा जब तक सिद्ध, बुद्ध और मुक्त नहीं बनता तब तक वह संसार मे ही भटकता रहता है। परन्तु जैसे मिट्टी कुंभार के हाथ में पहुँचकर घट का रूप धारण करती है फिर मस्तक पर धारण करने योग्य बन जाती है, उसी प्रकार जब आत्मा, परमात्मा के शरण में जाकर एवंभूत बन जाता है अर्थात् त्याग की चरम सीमा पर पहुँच जाता है तथा सम्पूर्णता प्राप्त करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन जाता है, तभी वह संसार की भ्रमणाओं से छुटकारा पाता है और भव-भ्रमण से मुक्त होकर कृतकृत्य बन जाता है। सिद्धावस्था में पहुँचने के लिए ही सद्भाव-प्रत्याख्यान किया जाता है। भगवान् ने कहा है—सद्भाव-प्रत्याख्यान करने से जीवात्मा शेष कर्मांशों का नाश करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर परिनिर्वाण प्राप्त करता है। और समस्त दुःखों का अन्त करके चरम सीमा पर पहुँचता है।

भगवान् ने जगत् के कल्याण के लिए जो कुछ कहा है उसे हृदय मे स्थापित करके जीवन को सार्थक करने का प्रयत्न करना चाहिए। भगवद्वाणी को जीवन मे उतारने से ही आत्मकल्याण हो सकता है। विचार को आचार में लाना कल्याण का मार्ग है।

सद्भावप्रत्याख्यान का अर्थ यथाभूत प्रत्याख्यान अर्थात् सच्चा त्याग है। सच्चा और अन्तिम त्याग तभी हो सकता है, जब संसार के समस्त बंधनों का त्याग करके शैलेशी अवस्था अर्थात् चौदहवें गुणस्थान की भावावस्था प्राप्त कर ली जाय। सद्भाव-प्रत्याख्यान के प्रश्न को दूसरे शब्दों में इस रूप में रक्खा जा सकता

है कि चौदहवाँ गुणस्थान प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है? चौदहवें गुणस्थान की स्थिति पाँच लघु अक्षर अर्थात् अ, इ, उ, ऋ, लृ उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय की है। यह अवस्था सांव्यवहारिक संकर्ण नहीं है अर्थात् वाणी द्वारा नहीं कही जा सकती। फिर भी गौतम स्वामी ने इस अवस्था के विषय में प्रश्न पूछा है। शास्त्र में प्रारंभिक अवस्था के विषय में जैसे प्रश्न किया गया है उसी प्रकार अंतिम अवस्था के विषय में भी किया गया है। इस प्रश्न से यह बात स्पष्ट विदित हो जाती है कि मोक्ष के लिए चौदहवें गुणस्थान का भी त्याग करना पड़ता है। श्रीदशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन में भी भगवान् से प्रश्न किया गया है कि—हे प्रभो! जीव जब योग का निरोध करता है तब उसे क्या अवस्था प्राप्त होती है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है:—

> जया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ।
> तया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ॥
> जया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ।
> तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो भवइ सासओ॥
>
> दश०, ४-२४-२५

अर्थात्—जब जीवात्मा योग का निरोध करता है तब शैलेशी अवस्था प्राप्त करता है और उसके बाद कर्मों का क्षय करके लोक के अग्रभाग पर पहुँचता तथा शाश्वत सिद्धि प्राप्त करता है। कर्मों का नाश होने पर जीवात्मा सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त हो जाता है।

यही बात सद्भावप्रत्याख्यान सम्बन्धी इस प्रश्न के विषय में समझनी चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि सद्भाव का अर्थ अच्छे

भाव और प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है। तो क्या इस प्रश्न में अच्छे भाव का त्याग करना कहा गया है? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—चौदहवें गुणस्थान की शैलेशी अवस्था व्यवहार में स्वतः और निश्चय में करने से प्राप्त होती है। प्रत्येक क्रिया कर्त्ता के करने से ही होती है। कर्त्ता द्वारा विना किये कोई क्रिया नहीं हो सकती। परन्तु कुछ क्रियाएँ ऐसी होती हैं कि वे समझ में आ जाती हैं और कुछ क्रियाएँ समझ में नहीं आती। उदाहरणार्थ-पेट मे गया हुआ दूध रसभाग और खलभाग में परिणत हो जाता है। यद्यपि यह परिणति आत्मा की शक्ति द्वारा ही होती है, परन्तु यह परिणति किस प्रकार और कब हो गई, यह बात जल्दी समझ में नहीं आती। यह तो निश्चित है कि आत्मा की शक्ति के विना शरीर में यह परिणमन हो ही नहीं सकता। अगर किसी मुर्दा शरीर में किसी उपाय द्वारा दूध पहुँचा दिया जाय तो क्या वह रसभाग और खलभाग में परिणत हो सकेगा? नहीं। अतएव स्पष्ट है कि आत्मा की शक्ति के विना शरीर में किसी प्रकार की परिणमनक्रिया नहीं हो सकती, उसी प्रकार जीव जब तेरहवें गुणस्थान मे जाता है, तब सद्भावप्रत्याख्यान की स्थिति रूप परिणति भी व्यवहार से स्वतः ही होती है, परन्तु निश्चय से तो करने से ही होती है। यह प्रश्न भी अंतिम अवस्था से सम्बन्ध रखता है। सद्भाव का प्रत्याख्यान आत्मा के कल्याण के लिए की जाने वाली अन्तिम क्रिया है। यह क्रिया कर चुकने पर फिर कोई भी क्रिया करना शेष नहीं रहता। यह बात हम लोग भले ही देख या जान सकते हों, परन्तु ज्ञानी महात्मा अवश्य देखते और जानते हैं।

व्याकरण की दृष्टि से यह प्रश्न कर्त्ता को भी लागू पड़ता है। कोई बात कर्त्ता के विषय में होती है तो कोई भाव के विषय में।

व्याकरण में कर्तृप्रयोग और भावप्रयोग में अन्तर बतलाया गया है, मगर यह अन्तर सब को समझ में नहीं आ सकता। कर्तृप्रयोग और भावप्रयोग का अन्तर बताने के लिए एक उदाहरण भी दिया गया है। जैसे—देवदत्त भोजन पकाता है। इस उदाहरण को दो प्रकार से कह सकते है। कर्तृप्रयोग में कहेगे—देवदत्त भोजन पकाता है। भावप्रयोग में कहा जायगा—देवदत्त द्वारा भोजन पकाया जाता है। इस उदाहरण मे कहने का आशय तो एक ही है, किन्तु एक ही आशय दो प्रकार से कहा जा सकता है। इसी प्रकार सद्भावप्रत्याख्यान के प्रश्न में भी कर्तृप्रयोग और भावप्रयोग—दोनों का उपयोग हो सकता है। परन्तु यहाँ कर्तृप्रयोग का उपयोग किया गया है अर्थात् यह कहा गया है कि यह क्रिया भी आत्मा के करने से ही होती है। आत्मा न करे तो क्रिया हो कैसे? यही बात बताने के लिए यह पूछा गया है कि सद्भाव-प्रत्याख्यान से जीवात्मा को क्या लाभ होता है? यहाँ कर्तृप्रयोग किया गया है, परन्तु यह क्रिया व्यवहार में स्वतः ही होती है।

कोई बात तुम्हारी समझ में न आवे तो मुझसे पूछ सकते हो। मैं समझाने का प्रयत्न करूँगा। फिर भी अगर समझ में न आवे तो सूत्र-सिद्धान्त पर विश्वास रखकर यही मानना चाहिए कि भगवान् की प्ररूपणा सत्य ही है। हम छद्मस्थ होने के कारण अमुक सत्य बात नहीं समझ पाते, यह हमारा दोष है।

४६

बयालीसवाँ बोल ।

प्रतिरूपता

सद्भावप्रत्याख्यान अन्तिम दशा का प्रश्न है। उसका विवेचन किया जा चुका है। यहाँ साधकदशा के सम्बन्ध मे प्रश्न किया गया है। सभी प्रत्याख्यानों में व्यवहार मुख्य है, अतएव अब व्यवहार के विषय में प्रश्न किया जा रहा है। श्री गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं :—

मूलपाठ

प्रश्न—पडिरूवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—पडिरूवयाए णं लाघवियं जणयइ, लहुभूए णं जीवे अप्पमत्ते, पागडलिंगे पसत्थलिंगे, विसुद्धसम्मत्ते, सत्तसमिइसमत्ते, सव्वपाण-भूय-जीव-सत्तेसु विससणिज्जरूवे अप्पडिलेहे जिइंदिए विउलतवसमिइसमन्नागए यावि भवइ ॥४२

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! प्रतिरूपता (आदर्श—जिनकल्पी की बाह्य और आन्तरिक उपाधि से रहित दशा) से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—जीव प्रतिरूपता से लघुता (निश्चिन्तता) पाता है और लघुशील जीव अप्रमत्त होता है। प्रशस्त तथा प्राकृतिक लिंग (तथा रूप का गुणयुक्त द्रव्यलिंग) धारण करता है तथा निर्मल सम्यक्त्वी और समिति सहित बनता है और सब जीवों का विश्वासपात्र, जितेन्द्रिय तथा विपुल तपश्चर्या से युक्त भी बनता है।

व्याख्यान

इस प्रश्न पर विचार करने से पहले उसके शब्दार्थ पर विचार कर लेना उचित है। 'प्रतिरूपता' शब्द प्रति+रूपता इस प्रकार दो शब्दों के मेल से बना है। 'प्रति' का साधारण अर्थ अनुकरण करना होता है। यहाँ रूप का अनुकरण समझना चाहिए। अतएव इस प्रश्न का अर्थ यह हुआ कि स्थविरकल्पी मुनि का वेश धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

कल्प का अर्थ है—मर्यादा। मर्यादा भूमिका के अनुसार होती है। अर्थात् जो जैसा अधिकारी होता है, उसी के अनुसार उसकी मर्यादा होती है। अगर मर्यादा बँधी न हो तो कर्त्ता का भी नाश होता है और कार्य का भी नाश होता है। इस कारण मर्यादा भूमिका के अनुसार ही बाँधी जाती है और मर्यादा का ही दूसरा नाम कल्प है। श्रीभगवतीसूत्र नामक पाँचवें अंग में साधुओं के लिए मुख्यतः पाँच कल्प बतलाये गये हैं—(१) स्थितकल्प (२) अस्थितकल्प (३) स्थविरकल्प (४) जिनकल्प और (५) कल्पातीत।

इन पाँच कल्पो का वर्णन अन्य अनेक सूत्रो में तथा ग्रंथो में किया गया है। कल्पसूत्र तो कल्प बतलाने के लिए ही है। अधिक समय तक सूत्र का पाठ किया जा सके, इसलिए उस सूत्र में दूसरी बातों का भी वर्णन किया गया है, फिर भी कल्पसूत्र मुख्य रूप से कल्प बताने के लिए ही है। कल्प बताकर साधुओ से कहा गया है कि जैसी स्थिति और जैसी शक्ति हो, वैसे ही कल्प का पालन करो। ऐसा न हो कि शक्ति न होने पर भी कल्पातीत बन जाओ। शक्ति के अनुसार ही कल्प-मर्यादा का पालन करना चाहिए। शक्ति के अभाव मे कल्पातीत नही बना जा सकता।

भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर के साधुओ के लिए स्थितकल्प बतलाया गया है। जैसे एक शेषकाल पूर्ण हो जाने के बाद उसी स्थान पर साधु को रुकना चाहिए या नही? इस विषय में कहा गया है कि भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर के शासन के साधु एक शेष काल पूर्ण हो चुकने पर उसी स्थान पर नहीं रुक सकते। उसी स्थान पर अधिक ठहरना उनके लिए मर्यादा-विरुद्ध है। अगर इस प्रकार की कोई मर्यादा न बाँधी गई होती तो बार-बार क्लेश होता और मर्यादा पालने वाले साधुओ का स्थान मर्यादा न पालने वाले साधु ले लेते। इस अव्यवस्था को हटाने के के निमित्त साधुओ के लिए यह मर्यादा बतलाई गई है कि वे एक स्थान पर एक शेष काल से अधिक न रुकें। इसी प्रकार चातुर्मास के लिए भी मर्यादा बाँधी गई है। शास्त्र में उत्तम, मध्यम और जघन्य, इस प्रकार तीन तरह के चातुर्मास कहे गये है। चातुर्मास-कल्प के विषय मे बतलाया गया है कि साधु चातुर्मास के जितने दिन एक स्थान पर रहा हो, उसके दुगुने दिन दूसरी जगह व्यतीत करने के बाद ही उस स्थान पर आ सकता है। इससे पहले उस स्थान पर नहीं आ सकता।

कुछ लोगों का कहना है कि कल्पमर्यादा में क्या धरा है? पर ऐसा कहने वालों को समझना चाहिए कि महापुरुषों ने जो कल्पमर्यादा बताई है, वह सहेतुक होने के कारण व्यर्थ नहीं है। मर्यादा बाँधना व्यर्थ है, ऐसा कहने वाले मर्यादा का पालन न कर सकने के कारण उसे व्यर्थ कहते हैं। वास्तव में मर्यादा बाँधना व्यर्थ नहीं है। मर्यादा बाँधने में तो महान् उद्देश्य और आशय छिपा है।

जैसे शेष काल और चातुर्मास की मर्यादा बाँधी गई है, उसी प्रकार वस्त्र, पात्र, भोजन, स्थान आदि की भी मर्यादा बतलाई है। यह मर्यादा भगवान् ऋषभदेव और भगवान महावीर के साधुओं के लिए ही है। शेष तीर्थंकरो के साधुओ के लिए ऐसी मर्यादा नहीं है। इस कथन पर शंका हो सकती है कि ऐसा होने का क्या कारण है? यह तो एक प्रकार का पक्षपात जान पड़ता है। इस शंका का समाधान यह है कि महापुरुषों ने किसी के साथ पक्षपात नहीं किया है। उन्होंने अपने ज्ञान में देखकर आवश्यकता के अनुसार ही परिवर्तन किया है। आवश्यकता के अनुसार ही मर्यादा बाँधना उचित है, यह बात एक लौकिक उदाहरण द्वारा समझाता हूँ।

एक सेठ के दो पुत्र थे। दोनों का विवाह हो गया था। एक पुत्रवधू सोच-समझ कर काम करती और अपने काम की मर्यादा भी रखती है, मगर दूसरी ऊटपटांग काम करती है और किसी प्रकार की मर्यादा भी नहीं रखती है। इस दूसरी पुत्रवधू की अव्यवस्थित कार्यप्रणाली देखकर सेठ ने उसके लिए ऐसी मर्यादा बाँध दी की वह अमुक रकम से अधिक खर्च नहीं कर सकती। पहली पुत्रवधू पहले से ही सोच-समझ कर मर्यादापूर्वक काम करती थी, अतएव उसे यह छूट दी गई कि वह इच्छानुसार खर्च कर सकती है। सेठ ने इस

प्रकार मर्यादा बाँधकर क्या कुछ अनुचित किया? सेठ को एक पुत्र-वधू के लिए मर्यादा बाँधना आवश्यक प्रतीत हुआ तो उसने मर्यादा बाँध दी और दूसरी के लिए मर्यादा बाँधना आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ तो मर्यादा नहीं बाँधी। सेठ के हृदय में किसी के प्रति पक्षपात नहीं है फिर भी अगर उसे कोई पक्षपाती कहता है तो कहने वाले की भूल है।

इसी प्रकार भगवान् महावीर ने और भगवान् पार्श्वनाथ ने एक ही मोक्ष का मार्ग बतलाया है, परन्तु दोनों ने अपने-अपने साधुओं के लिए आवश्यकतानुसार कल्पमर्यादा बाँधो थी। भगवान् पार्श्वनाथ के साधुओ को अस्थितकल्पी कहा गया है और भगवान् महावीर के साधु स्थितकल्पी कहलाते हैं। भगवान् पार्श्वनाथ ने और भगवान् महावीर ने काल आदि का विचार करके ही कल्प-मर्यादा बाँधी थी। मर्यादा बाँधने में पक्षपात करने का कोई कारण न था।

भगवान् ने जो मर्यादा बाँधी है, उसका शक्ति के अनुसार अवश्य पालन करना चाहिए। अपने में शक्ति हो और वन में बिना वस्त्र धारण किये रहा जा सकता हो तो ऐसी अवस्था में जिनकल्पी रहना उचित है। अगर शक्ति न हो तो स्थविर कल्प का पालन करना चाहिए। स्थविरकल्प का सामान्य अर्थ यह है कि साधु स्वयं संयम में स्थिर रहे और दूसरों को भी संयम में स्थिर रक्खे। स्थविरकल्पी का आचार-विचार और आहार-विहार ही ऐसा होना चाहिए कि जिससे वह स्वयं संयम में स्थिर रह सके और दूसरों को भी संयम में स्थिर रख सके।

स्थविरकल्पी और जिनकल्पी में क्या अन्तर है? यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाने का प्रयत्न करता हूँ। कल्पना कीजिए, एक गाय बछड़ा वाली है और दूसरी विना बछड़े की है। कदाचित्

वाघ दोनों पर हमला करे तो बिना बछड़े की गाय तो पूंछ ऊँची उठाकर भाग जाती है, मगर बछड़ा वाली गाय को तो अपनी और अपने बछड़े की रक्षा करनी पड़ती है। वह गाय वाघ से अपने बछड़े की रक्षा करती है और जब वाघ दूर चला जाता है तो बछड़े को मुंह के आगे करके चलती है। बछड़े को साथ ले चलने के कारण गाय की गति धीमी हो जाना स्वाभाविक है। ऐसा होने पर भी यह संसार केवल बछड़ा वाली या केवल बिना बछड़े की गायों से ही नहीं चल सकता। संसार में दोनों प्रकार की गायो की आवश्यकता है। इसी प्रकार साधु तो जिनकल्पी भी हैं और स्थविर-कल्पी भी हैं, मगर दोनों प्रकार के इन साधुओं मे एक जिनकल्पी सिर्फ अपनी ही आत्मा का कल्याण करते है और दूसरे स्थविरकल्पी अपने साथ दूसरो का भी कल्याण करते हैं। जिनमें शक्ति होती है वे वन में जाकर नग्न रह सकते हैं और अछिद्रपाणी हों तो कर-पात्र मे किसी एक गृहस्थ के घर से आहार लेकर आहार कर सकते हैं। इस प्रकार से आत्मकल्याण करने वालों के लिये मोक्ष भी समीप ही है। परन्तु जिनमें इतनी शक्ति नहीं होती वे स्थविरकल्पी होकर आत्मकल्याण के साथ संसार का भी सुधार करते हुए विचरते हैं। अतएव जिनकल्पी की अपेक्षा स्थविरकल्पी को मोक्ष प्राप्त करने में विलम्ब होना स्वाभाविक है। जिनकल्पी और स्थविरकल्पी दोनो का ध्येय तो एक ही मोक्षप्राप्ति होता है परन्तु दोनो की मोक्ष जाने की गति में अन्तर होता है। जिनकल्पी की अपेक्षा स्थविरकल्पी की मोक्ष जाने की गति धीमी होती है।

शास्त्र में स्थविरकल्प की दस मर्यादाएँ बतलाई गई है। इन सब मर्यादाओं के वर्णन करने का यहाँ अवकाश नहीं है, अतएव संक्षेप मे यही कहता हूँ कि स्थविरकल्पी साधु दस प्रकार की मर्या-

दाओं का समुचितरूप से पालन करता हुआ स्व-पर का कल्याण करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है।

साधु तो जिनकल्पी भी होता है और स्थविरकल्पी भी होता है, ऐसी अवस्था में अगर कोई जिनकल्पी को ही साधु माने और स्थविरकल्पी को साधु न माने तो वह विराधक है। इसी प्रकार अगर स्थविरकल्पी को ही साधु माने और जिनकल्पी को साधु न माने तो भी विराधक है। दोनो प्रकार के साधुओं को साधु मानने की उदारता रखनी चाहिए, तुच्छता नहीं रखना चाहिए। भगवान् ने जिनकल्पी और स्थविरकल्पी—दोनो को साधु कहा है। भगवान् ने कहा है कि स्थविरकल्पी साधु के विना संघ की सेवा नहीं हो सकती। स्थविरकल्पी साधु पर संघ की सेवा का भार है। अतएव स्थविरकल्पी साधु को ऐसा व्यवहार रखना चाहिए जिससे संघ की सेवा भलीभाँति हो सके। यद्यपि संघ का भार स्थविरकल्पी साधु पर है परन्तु उस भार को वहन करने के लिए श्रावकों का सहकार होना भी आवश्यक है। अगर कोई साधु उन्मार्ग पर जाता हो तो उसे सन्मार्ग बतलाना श्रावक का कर्त्तव्य है। अगर साधु विगड़ेगा तो संसार विगड़ जाएगा और यदि साधु सुधरेगा तो संसार सुधरेगा। संसार का कल्याण करने का काम साधुओं के हाथ में है। परन्तु साधुओ का सुधार करने के लिए श्रावकों को भी अपना सुधार करना पड़ेगा। जब तक श्रावक स्वयं नहीं सुधरेंगे तब तक साधुओं पर उनकी छाप नहीं पड़ेगी। जनसमाज का कल्याण करना सरल काम नहीं है। इसके लिए साधुओ को सुधरना पड़ेगा और साधुओं का सुधार करने के लिए सर्वप्रथम श्रावको को सुधरना होगा। संक्षेप में, जीवनसुधार करने मे ही सब का कल्याण है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का सुधार करके अपना और पराया कल्याण करे, यही मेरी मंगलकामना है।

भगवान् ने कहा है—प्रतिरूपता से अर्थात् स्थविरकल्पी का आदर्श वेष धारण करने से जीव में हल्कापन–लघुता आ जाती है। आत्मा उपाधि से अपने-आपको शक्तिशाली मानता है, परन्तु ज्ञानी जनों का कथन है कि उपाधि से आत्मा शक्तिशाली नहीं होता वरन् भारी बनता है। जीवात्मा जब प्रतिरूपता धारण करता है तब उसमें लघुता आ जाती है और उसका भारीपन मिट जाता। इसी कारण चक्रवर्त्ती राजाओं ने छह खण्ड का राज्य छोड़कर और धन्ना शालिभद्र जैसे ऋद्धिशालियों ने अपनी ऋद्धि का त्याग करके इस साधुवेष को अपनाया था। साधुवेष धारण करने से आत्मा में लघुता आने के कारण ही समृद्ध लोग अपनी ऋद्धि-सिद्धि का त्याग किया करते थे।

साधुवेष में ऐसा क्या चमत्कार है? यह बात अगर तुम लोग भलीभाँति न समझ सको तो कम से कम इतना तो अवश्य मानो कि 'महाजनो येन गतः स पन्थाः।' अर्थात् महान पुरुष जिस मार्ग पर चले हैं, उसी सन्मार्ग पर हमें भी चलना चाहिए। साधुवेष धारण करने से क्या लाभ होता है, इस विषय में इस तरह विचार करो कि कोई मनुष्य अन्तरंग में चाहे जैसा साधु हो, लेकिन अगर उसने साधु का वेष धारण नहीं किया है तो तुम उसे साधु नहीं मानोगे और न वन्दना ही करोगे। यह ठीक है कि केवल साधुवेष धारण करने से ही कोई साधु नहीं हो जाता, परन्तु निश्चय का काम निश्चय में होता है और व्यवहार का काम व्यवहार में होता है। व्यवहार में लिंग का होना आवश्यक माना गया है। इसी कारण गौतमस्वामी ने भगवान् से यह प्रश्न पूछा है कि स्थविरकल्पी साधु का लिंग धारण करने से आत्मा को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने साधुवेष धारण करने का एक

लाभ तो यह बतलाया गया है कि साधुवेष धारण करने से जीवात्मा में लघुता आती है।

साधुवेष में कैसी शक्ति है, इस विषय में मुझे निजी अनुभव हुआ है। जब मैंने साधुदीक्षा ली तब शीतकाल था और जोरों की सर्दी पड़ती थी। दीक्षा लेने से पहले के दिन, रात्रि के समय ऐसी सर्दी लगी थी कि खूब कपड़े ओढ़ने पर भी वह कम नहीं हुई। उस समय मेरे मौसेरे भाई ने मुझसे कहा—कल दीक्षा लेनी है और आज कड़ाके की सर्दी लग रही है! तो फिर दीक्षा लेने के बाद सर्दी कैसे सहन कर सकोगे? मैंने उत्तर दिया—'कल की बात कल देखी जाएगी। आज तो मुझे बहुत सर्दी लग रही है, मानो मेरी परीक्षा लेने आई है!'

दूसरे दिन मैंने दीक्षा ली। उस रात को नदी के किनारे बने हुए एक मन्दिर में हमने निवास किया। मन्दिर का द्वार नदी के सन्मुख था और नदी की तरफ से साँय-साँय करता हुआ पवन आ रहा था। मेरे शरीर पर सिर्फ गाती पछेवड़ी थी और ओढ़ने के लिए एक चादर था। ओढ़ने के इतने साधन होने पर भी मुझे ठंड नहीं लगी और रात्रि में ऐसी गाढ़ी निद्रा आई कि पता ही नहीं चला कि रात्रि कब व्यतीत हो गई है। हालांकि इस रात्रि में भी पहली रात्रि जितनी ही सर्दी थी। थोड़े से वस्त्रों का उपयोग करने पर भी मुझे सर्दी न लगने के कारण पर विचार करने पर मुझे यह विचार आया कि कल मैं साधुवेष मे नहीं था, इसी कारण बहुत-से कपड़े ओढ़ने पर भी सर्दी कम नहीं मालूम हुई और आज मै साधुवेष मे हूँ, अतः इतने कम वस्त्र ओढ़ने पर भी सर्दी नहीं लगी। यह साधुवेष की ही महिमा है। जब मैंने दीक्षा ली थी तब मेरी उम्र अधिक नहीं थी, फिर भी मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि मेरे सिर पर का

बोझा हल्का हो गया है। जब छोटी उम्र में भी साधुवेश धारण करने से लघुता का अनुभव हुआ तो फिर छह खंड की ऋद्धि का परित्याग करके दीक्षा लेने वालों को कैसी लघुता का अनुभव होता होगा! इस प्रकार साधुवेष धारण न करने से जीव पर संसार का बोझा लदा रहता है परन्तु साधुवेष धारण कर लेने पर वह हल्का-लघु बन जाता है।

साधुवेष धारण करने से मनुष्य हल्का हो जाता है, इस बात का प्रमाण बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—जब आत्मा हल्का होता है तब वह प्रमादरहित बन जाता है। यद्यपि प्रमत्त अवस्था षष्ठ गुणस्थान तक बनी रहती है परन्तु यहाँ जो प्रमादरहित होने का कथन किया गया है, उसका अर्थ यह है कि आत्मा साधुलिंग धारण करते ही मद, विषय, कषाय आदि प्रमादों से पृथक् हो जाता है। साधुलिंग धारण करने से जीवात्मा प्रमाद का सेवन करते हिचकता है और कदाचित् प्रमाद का सेवन करता भी है तो साधु-वेष का ध्यान आते ही वह उसका त्याग कर देता है। उदाहरणार्थ-प्रसन्नचन्द्र ऋषि ने सातवें नरक में जाने योग्य संकल्प किया था, परन्तु जब उन्होंने अपने मस्तक पर हाथ फेरा तब 'मैं साधु हूँ' ऐसा खयाल आते ही वह अपनी मूल स्थिति पर आ गए। वह राजर्षि भी आखिर सुविहित वेष के ही प्रभाव से मूल स्थिति पर आ सके। साधुवेष ने ही उन्हें नरक में जाने से बचाया। इस प्रकार साधुवेष धारण करने से आत्मा लघुता प्राप्त करता है। यद्यपि भगवान् ने यह तो स्पष्ट कहा है कि अगर कोई व्यक्ति साधु का वेष धारण करके भी अपने परिणामों को पवित्र नहीं रखता तो उसकी मति के अनुसार ही गति होती है, परन्तु साधुवेष बहुत बार आत्मा को स्थिर करने मे सहायक बनता है और इसी कारण यह कहा

गया है कि साधुवेष धारण करने से आत्मा को लघुता प्राप्त होती है और लघुताशील जीव अप्रमादी बनता है। यद्यपि साधुवेष धारण करते ही प्रमाद सर्वथा नहीं छूट जाता परन्तु वेष प्रमाद से मुक्त होने के मार्ग पर ले जाता है और किसी अवसर पर तो आत्मा को पतित होने से भी बचा लेता है। साधुवेष प्रमादरूपी शस्त्र-अस्त्र के आघातों से बचने के लिए बख्तर का काम देता है।

कुछ लोग आध्यात्मिकता के नाम पर साधुवेष आदि की उपेक्षा करते हैं, परन्तु यह उनकी भूल है। भगवान् ने अपने कल्याण के लिए ही साधुवेष धारण का उपदेश दिया है। साधुवेष धारण करने से होने वाले लाभ तो अनुभवगम्य हैं, बुद्धिगम्य नहीं हैं; इसलिए भगवान् ने कहा है कि साधुवेष धारण करने से ही आत्मा को लघुता का अनुभव होता है।

कहने का आशय यह है कि साधुवेष धारण करने से जीवात्मा द्रव्य से और भाव से हल्का बन जाता है। द्रव्य से तो उपकरण आदि के भार से हल्का हो जाता है और भाव से प्रमाद-भार से हल्का हो जाता है। शास्त्र में साधु के लिए जितने भंडोप-करण आदि रखने का विधान किया गया है, उससे अधिक भंडोप-करण आदि साधु अपने पास नहीं रख सकता और इसी कारण साधु द्रव्य से उपकरण आदि के भार से हल्का बन जाता है। साधु के पास ऐसी कोई वस्तु नहीं होनी चाहिए, जिसके विषय में पूछने पर साधु उत्तर न दे सके। साधु के पास जो भी कोई वस्तु हो वह संयम में सहायक और उपयोगी होनी चाहिए। कोई भी निरुपयोगी वस्तु साधु के पास नहीं होनी चाहिए। जिस वस्तु के द्वारा इन्द्रियों के विषयों का पोषण हो और साधुता का ह्रास हो ऐसी वस्तु साधु नहीं रख सकता। साधु तो संयम में सहायक और साधुता की

पोषक वस्तु ही रख सकता है और वह भी शास्त्रविहित परिमाण में ही। इस प्रकार साधु द्रव्य से अनेक उपकरणों की उपाधि से मुक्त होकर हल्का हो जाता है और भाव से क्रोध आदि कषायों का परित्याग करके हल्का हो जाता है। साधुलिंग को धारण करने वाला कोई व्यक्ति कदाचित् क्रोध करने लगे तो श्रावक, साधु से कह सकता है कि, महाराज! साधु होकर क्रोध करना आपके लिए उचित नहीं है। हम गृहस्थ हैं, मगर आप तो क्रोध आदि को जीतने वाले साधु हैं। आप क्रोध करें, यह उचित नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार श्रावकों क कथनमात्र से क्रोध करने वाला साधु भी कषाय से बच जाता है और साधुवेष होने के कारण क्रोध, विषय, कषाय, निद्रा आदि प्रमादों से बच सकता है। सुविहित साधुवेष के कारण जीवात्मा पाप से बचता है और कर्मगुरुता के भार से हल्का बन जाता है।

प्रमाद को जीतने के लिए साधुवेष धारण किया जाता है, प्रमाद को बढ़ाने के लिए नहीं। सरकार सिपाहियों को शस्त्र देती है-सो वैरियों को जीतने के लिए देती है, पराजित होने के लिए नहीं। इसी प्रकार सुविहित वेष भी प्रमाद को जीतने के लिए पहना जाता है। इसके अतिरिक्त साधुवेष साधुता का चिह्न है, इसलिए भी धारण किया जाता है। साधुवेष न धारण करने वाले व्यवहार में साधु नहीं कहलाते। प्रकट व्यवहार में साधु का लिंग धारण करने वाले ही साधु कहलाते हैं। उदाहरणार्थ—कोई मनुष्य पुलिस का सिपाही हो परन्तु अगर उसने पुलिस की नियत पोशाक नहीं पहनी है तो उसे कोई पुलिस का आदमी नहीं मानेगा और न उसकी आज्ञा ही मानेगा। भले ही उसे खुफिया पुलिस कोई समझ ले परंतु पुलिस की पोशाक के बिना उसे प्रकट रूप में पुलिस नहीं माना जा

सकता। इसी प्रकार कोई अन्दर से भले ही साधुता के गुणों से युक्त हो किन्तु जब तक वह साधु का लिंग धारण नहीं करेगा तब तक उसे प्रकट मे साधु नही माना जा सकता। इसी कारण श्री उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा गया है :—

लोगे लिंगपयोयणं।

अर्थात् लोको मे लिंग का प्रयोजन है।

लिंग से प्रथम तो सुविहित साधु माना जाता है, दूसरे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की भी रक्षा होती है। रजोहरण और मुखवस्त्रिका जीवों की रक्षा के लिये ही रक्खी जाती है। इस प्रकार साधुलिंग प्रशस्त है। साधुओं के पास जो भी वस्तु हो वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की रक्षा के लिए ही होनी चाहिए। जो चीज ज्ञान दर्शन और चारित्र की घातक हो, ऐसी एक भी वस्तु साधु अपने पास नहीं रख सकता और न उसे रखनी ही चाहिए।

सुना है, वांकानेर के महाराजा साहब एक बार अपने समाज के नागजी स्वामी के पास आये। उन्होंने पूछा—'महाराजश्री! आपके पास क्या-क्या उपकरण हैं?

नागजी स्वामी ने अपने सब उपकरण बतला दिये। स्वामीजी के उपकरण देखकर महाराजा बहुत प्रसन्न हुए, और कहने लगे—'साधु के पास जितनी चीजें होनी चाहिए, उतनी ही आपके पास हैं।'

कहने का आशय यह है कि साधुलिंग प्रशस्त है। अतएव साधु के पास गुण उत्पन्न करने वाली चीजें ही रह सकती है, अवगुण उत्पन्न करने वाली नहीं। साधु के पास ऐसी ही वस्तु रह सकती हैं कि कोई भी और कभी भी उन्हे देखना चाहे तो साधु को दिख-

लाने में संकोच न हो। उदाहरणार्थ—अगर किसी साधु के पास दर्पण या कंघा हो तो उसे दिखलाने में साधु को संकोच होगा और ऐसी चीज देख कर लोग साधु का उपहास करेंगे। दर्पण या कंघा रखना साधु के लिए वर्ज्य है। इसके विपरीत अगर साधु के पास शास्त्र हो तो शास्त्र बतलाने में साधु को संकोच नहीं होगा। शास्त्र तो साधुता का चिह्न और भूषण है। पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज कहते थे कि शास्त्र तो जैन साधु का सिंगार है।

प्रशस्त लिंग धारण करने से आत्मा में विशुद्धता आती है और वह विशुद्धता बढ़ती जाती है। प्रशस्त साधुलिंग से सम्यक्त्व आदि गुणों की वृद्धि होती है और इन गुणों मे आत्मा स्थिर होता है। सुविहित वेष वही साधु धारण कर सकता है, जिसमें सम्यक्त्व आदि गुण होते हैं। साधु वेष से इन गुणों की रक्षा और वृद्धि होती है।

स्थविरकल्पी का वेष धारण करने से दूसरा लाभ क्या होता है, यह बतलाते हुए भगवान् ने कहा है कि आपत्तिकाल मे साधु वेष अध्यवसाय को निश्चल रखता है। आपत्तिकाल में साधुवेष से अध्यवसाय मे किस प्रकार निश्चलता रहती है, इस विषय पर विचार करते हुए मेरा स्वानुभव यहाँ स्मरण में आ जाता है:—

घोड़नदी में एक श्राविका सामायिक में बैठी थी। सामायिक के समय उसे बिच्छू ने डंक मार दिया। बिच्छू के डंक मारने पर भी वह श्राविका तब तक चुप-चाप बैठी रही जब तक सामायिक पूर्ण न हो गई। सामायिक पूर्ण होते ही वह चीख मार कर रोने लगी। लोगों ने रोने का कारण पूछा तो श्राविका ने कहा—'मुझे बिच्छू ने काट लिया है, और उसकी असह्य पीड़ा के कारण रोये बिना नहीं रहा जाता।'

यह सुन कर लोगों ने कहा--'जब बिच्छू ने डंक मारा था तब तुम चुप कैसे बैठी रहीं ?

श्राविका बोली—'उस समय मैं सामायिक में थी। सामायिक में कैसे रो सकती हूँ !'

इस प्रकार वह श्राविका बिच्छू के काटने पर भी सामायिक के समय मन को मजबूत करके बैठी रही और अपना अध्यवसाय दृढ़ रख सकी। इस प्रकार वेष आपत्तिकाल में अध्यवसाय को दृढ़ रखता है।

आज सामायिक निरुपयोगी मानी जाती है और कुछ लोग सामायिकक्रिया के विरुद्ध भी बोलते हैं; मगर सामायिक के विरुद्ध बोलने वाले लोग भूल करते हैं। किसी आपत्ति के समय सामायिक द्वारा अध्यवसाय निश्चल रहते हैं। कुछ लोगों को सामायिक क्रिया मामूली-सी मालूम होती है, परन्तु वास्तव में सामायिक किस प्रकार जीवन-साधक है, यह तो समय आने पर ही पता चलता है। जो लोग नियमित रूप से बराबर सामायिक करते हैं, वही सामायिक का प्रभाव समझ सकते हैं। चोर तो हमेशा नहीं आते, लेकिन तिजोरी में ताला हमेशा लगाया जाता है। चोर के आने पर तिजोरी में ताला लगा होने पर धन की रक्षा हो जाती है। इसी प्रकार वेष से भी आपत्तिकाल में अध्यवसायों की रक्षा हो जाती है। इतना ही नहीं वरन् साधुलिंग पाँचों समितियों का पालन करने में समर्थ होता है। साधुवेष की महत्ता प्रकट करते हुए आगे कहा गया है कि साधुवेष धारण करने वाला साधु प्राणी, भूत, जीव, सत्व आदि समस्त प्राणियों का विश्वासपात्र बन जाता है। साधुवेष धारण करने वाला साधु निषिद्ध घर में भी निःसंकोच होकर जा सकता

है। आज साधुवेषधारी लोगों पर जो अविश्वास पैदा हुआ दिखाई देता है, उसका कारण कुछ और होगा, परन्तु साधुवेष तो विश्वास उत्पन्न करने का ही साधन है।

सुविहित साधुवेष उपधि को अल्प करने में साधनभूत बनता है और इससे सब प्रकार की झंझटें दूर हो जाती है। वेष-धारी अल्प ही उपधि रख सकता है और इस प्रकार वह अधिक सामान सँभालने की झंझट से बच जाता है। साधुवेष जीव को जितेन्द्रिय बनने का मूक संदेश सुनाता है। इस प्रकार साधुवेष विपुल तप-संयम आदि सद्गुणों की प्राप्ति कराता है तथा सद्गुणो का संरक्षण करने मे भी साधक बनता है।

सुविहित साधुवेष मे उत्पन्न होने वाले अनेक गुणों में से प्रत्येक गुण पर विचार करने के लिए बहुत समय की आवश्यकता है। अतएव समुच्चय रूप में यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि सुविहित साधुवेष द्वारा अनेक गुणों की प्राप्ति होती है और जो लोग सुविहित साधुवेष धारण करके उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाते तथा रक्षा करते है, वे अपना और पर का कल्याण करते हे।

स्थविर वेष धारण करना तो परमात्मा के दरबार मे बैठक प्राप्त करने का प्रयत्न करने के समान है। दरबार में बैठने वाले लोगो को भी वेष के विषय मे सावधानी रखनी पड़ती है, तो फिर क्या परमात्मा के दरबार मे बैठने के लिए वेष की सावधानी नहीं रखनी चाहिए ? अवश्य रखनी चाहिए।

साधुवेष स्वीकार करके प्रत्येक साधु को इस बात का विचार करना चाहिए कि महान् चक्रवर्त्ती भी अपनी ऋद्धि-सम्पदा का त्याग करके जिस वेष को धारण करते हैं, वही वेष मुझे भी

प्राप्त हुआ है। अतएव मुझे इस वेष के विरुद्ध या इसे कलंक लगाने वाला कोई काम नही करना चाहिए। साधुवेष की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने का भार हमारे ऊपर भी है और तुम्हारे ऊपर भी है, क्योंकि तुम (श्रावक) भी चतुर्विध तीर्थ मे से एक हो। शास्त्र में कहा है:—

चउविहे समणसंघे पण्णत्ते, तंजहा—समणाए, समणीते, सावयाए, सावियाए य।

अर्थात्—साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका, यह चतुर्विध संघ है। अतएव तुम्हे भी कोई काम ऐसा नहीं करना चाहिए, जिसके कारण संघ या शासन की प्रतिष्ठा को कलंक लगे। तुम्हे ऐसे ही सुकार्य करना चाहिए, जिससे संघ और शासन की प्रतिष्ठा और कीर्ति बढ़े।

जिन्होने साधुवेष धारण किया है उन्हे ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि अब हमें कुछ करना शेष नहीं रह गया है। उन्हे विचारना चाहिए कि दूसरे लोग भले ही कर्त्तव्य से भ्रष्ट हो जाएँ पर मैं अपने कर्त्तव्य का परित्याग नहीं करूँगा।

शास्त्रकारो ने जन समाज को कल्याण का यह मार्ग बतलाया है। इस कल्याणमार्ग पर चल कर अनेक साधुओ ने स्व-पर का कल्याण साधन किया है और अनेक साधक कल्याण साध रहे हैं। कल्याण के मार्ग पर आरूढ़ होकर सभी लोग स्व-पर का कल्याण साधन करें, बस यही हृदयगत भावना है।

४७

तयालीसवाँ बोल।

सेवा

जो साधु, साधुवेष धारण करके कर्त्तव्यपालन मे तत्पर रहता है, वह आत्मकल्याण की साधना करता है। साधुवेष की शोभा वास्तव में सेवा में है। नीतिकारों ने सेवा को परमधर्म माना है। सेवा भी तपोमार्ग है। अतएव वैयावृत्य (सेवा) के विषय में गौतम स्वामी, भगवान महावीर से प्रश्न करते हैं:—

मूलपाठ

प्रश्न—वेयावच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबंधइ।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! वैयावृत्य अर्थात् सेवा से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—वैयावृत्य से तीर्थंकरनाम-गोत्र का कर्म बंध होता है।

व्याख्यान

वेयावच्च अथवा वैयावृत्य को व्यावहारिक भाषा मे सेवा कहते हैं। कितनेक लोग सेवा करने को हल्का काम मानते हैं। परन्तु ज्ञानी जनों का कथन है कि सेवा को हल्का काम समझने वाला स्वय ही हल्का बना रहता है। अर्थात् वह उच्च अवस्था प्राप्त नहीं कर सकता। वास्तव मे सेवा छोटा काम नही है। वह तो महान् कर्त्तव्य है। सेवा करने वाले को यह मानना चाहिए कि मै जो सेवा कर रहा हूँ वह परमात्मा की ही सेवा कर रहा हूँ। ऐसा मानकर जो साधु स्वयसेवक की भाँति सेवा करते है, उनके लिए भगवान् ने कहा ही है कि वैयावृत्य-सेवा करने वाला तीर्थङ्करनामगोत्र बाँधता है। जब दूसरे की सेवा करते समय यह समझा जाता है कि मैं परमात्मा की सेवा कर रहा हूँ, तब वह सेवा अनोखी-अनुपम ही होती है।

कुछ लोग सेवा के नाम पर सेवा का ऊपरी ढोंग करते हैं परन्तु भीतर से सच्ची सेवा नहीं करते। ऐसे लोगों के विषय मे ज्ञानी जनों का कथन है कि वे झूंठ-कपट का सेवन करने वाले लोग वास्तव में परमात्मा की सेवा नहीं करते वरन् गुलामी की सेवा करते हैं। सच्ची सेवा में कभी झूठ-कपट का व्यवहार किया ही नहीं जा सकता। श्रीस्थानांगसूत्र में दस प्रकार की सेवा बतलाते हुए कहा है:—

(१) आयरियवेयावच्च (२) उवज्झायवेयावच्च (३) थेरवेयावच्च (४) तवसीवेयावच्च (५) सेक्खवेयावच्च (६) गिलाणवेयावच्च (७) गणवेयावच्च (८) कुलवेयावच्च (९) संघवेयावच्च (१०) साहम्मियवेयावच्च।

अर्थात् सेवा दस प्रकार की है--(१) आचार्य की सेवा (२) उपाध्याय की सेवा (३) स्थविर की सेवा (४) तपस्वी की सेवा (५) शिष्य की सेवा (६) ग्लान-रोगी की सेवा (७) गण की सेवा (८) कुल की सेवा (९) संघ की सेवा और (१०) सहधर्मी की सेवा।

यह दस प्रकार की सेवा बतलाई गई है। इनमें से आचार्य की सेवा करने से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि आचार्य की सेवा करने से प्रतिक्षण अनन्त कर्मों का क्षय होता है और अन्त में मोक्ष प्राप्त होता है। इसी प्रकार प्रत्येक सेवा के विषय में प्रश्नोत्तर किये गये हैं। यहां गौतम स्वामी ने समुच्चय रूप में वैयावृत्य अर्थात् सेवा के फल के विषय में प्रश्न किया है। इस प्रश्न के उत्तर में फरमाया है कि सेवा करने वाला तीर्थङ्कर गोत्र का उपार्जन करता है।

जैनशास्त्रों में तीर्थङ्कर पद से बड़ा अन्य कोई पद नहीं माना गया है। यह पद किसी अन्य पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त हो सकता है, ऐसा कथन इन ७३ बोलों में कहीं भी मेरे देखने में नहीं आया। यह महान् फल वैयावृत्य-सेवा करने से प्राप्त होता है, ऐसा बतलाया गया है। भगवान् ने सेवा का फल इतना उत्तम और महान् बताया है। जिस सेवा से ऐसा महान् फल प्राप्त होता है, वही सेवा करने में झूठ कपट का व्यवहार करना कितनी मूर्खता है! सेवा में जो छल-कपट करता है वह गुलामी की सेवा करता है, ऐसा समझना चाहिए। जो पुरुष किसी भी प्रकार की सेवा को परमात्मा की सेवा मानकर करता है, वह सेवा करने में छल-कपट का व्यवहार कर ही नहीं सकता।

सेवा अनेक प्रकार से होती है। ग्रंथों में कहा है कि भरतजी तथा बाहुबलीजी पूर्वजन्म में पाँच सौ मुनियों की सेवा

करते थे। उन मुनियो की वहिरंग सेवा भरतजी करते थे और अन्तरंग सेवा बाहुबलीजी करते थे। इस सेवा के फल-स्वरूप बाहुबलीजी को शारीरिक बल की प्राप्ति हुई और भरतजी को ऋद्धि-सम्पदा का बल प्राप्त हुआ। सेवा का यह फल वहिरंग है। सेवा द्वारा दूसरा जो फल मिलता है वह तो अत्यन्त ही महान् है और उसके विषय में भगवान् ने कहा ही है कि सेवा करने वाला तीर्थङ्कर-गोत्र का उपार्जन करता है। भगवान् ऋषभदेव के विषय में भी कहा जाता है कि उन्होने जीवानन्द वैद्य के भव में एक मुनि की खूब ही सेवा की थी और उस सेवा का महान् फल मिला था।

शास्त्र मे जब मुनियों के लिए भी सेवा करने का विधान किया गया है तब तुम्हे कितना अधिक सेवाकार्य करना चाहिए, इस बात का विचार तुम स्वयं ही कर सकते हो। कितनेक लोगो को सामायिक-पोषध आदि धार्मिक क्रिया करने का तो खूब चाव होता है, परन्तु सेवा कार्य करने में अरुचि होती है। और अगर किसी रोगी की सेवा करने का अवसर आ जाता है तो उन्हे बड़ी कठिनाई मालूम होती है। रोगी कपड़े में ही कै-दस्त कर देता है और कभी-कभी रास्ते मे ही चक्कर खाकर गिर पड़ता है। ऐसे रोगी की सेवा करना कितना कठिन है। फिर भी जो सेवाभावी लोग रोगी की सेवा को परमात्मा की सेवा मान कर करते है, उनकी भावना कितनी ऊँची होगी।

वास्तव मे यह अखिल संसार सेवा के कारण ही टिक रहा है। जब संसार में सेवाभावना की कमी हो जाती है तभी उत्पात मचने लगता है। और जब सेवाभाव की वृद्धि होती है तब यह संसार स्वर्ग के समान बन जाता है। अतएव सेवा कार्य करने में तनिक भी उपेक्षा नही करना चाहिए और न छल-कपट ही करना

चाहिए। जो मनुष्य माता-पिता अथवा अन्य किसी भी मनुष्य की सेवा करने मे छल-कपट करता हुआ भी अपने को सेवाभावी कहलवाता है, वह वास्तव मे सेवाभावी नहीं वरन् ढोंगी है। सच्चा सेवक तो वही है जो सेवा करने मे झूठ-कपट का आश्रय नहीं लेता और सेवा कार्य के प्रति घृणाभाव भी प्रदर्शित नहीं करता। जहाँ घृणा है वहाँ सच्ची सेवा नहीं हो सकती।

मुनि के लिए किस सीमा तक सेवा करने का विधान किया गया है, यह बताने के लिए एक जैन उदाहरण देकर समझाने का प्रयत्न करता हूँ:—

नंदिसेन नामक एक मुनि बहुत ही सेवाभावी थे। उनकी सेवा की प्रशंसा इन्द्रलोक तक जा पहुँची। इन्द्र ने देवसभा में नंदीसेन मुनि की सेवा की प्रशंसा करते हुए कहा—

राजकुमार होने पर भी नंदिसेन मुनि ऐसी सेवा करते हैं कि उन जैसी सेवा करना दूसरो के लिए बड़ा कठिन है।

इन्द्र के यह प्रशंसात्मक वचन सुनकर एक देव ने विचार किया—इन्द्र महाराज देवो के सामने एक मनुष्य की इतनी प्रशंसा क्यों करते हैं? अच्छा, उस सेवाभावी मुनि की परीक्षा क्यों न की जाय? आखिर नंदिसेन मुनि मनुष्य हैं। मनुष्य की नाक मे दुर्गंध जाती है: अतएव दुर्गन्ध द्वारा उन्हें घबरा देना स्वाभाविक और सरल है। इस प्रकार विचार करके उस देव ने नंदिसेन मुनि की परीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

वह देव साधु का स्वांग बना कर जहाँ नंदिसेन मुनि ठहरे थे, वहाँ पास के एक जंगल मे जाकर पड़ रहा। उस देव ने अपने

शरीर को ऐसा रुग्ण बना लिया कि शरीर के छिद्रों में से रक्त और मवाद बहने लगा। उस रक्त और पीव मे से असह्य दुर्गन्ध निकल रही थी। इस प्रकार रोगी साधु का भेष धारण करके उस देव ने नंदिसेन मुनि के पास समाचार भेजा कि पास के जंगल में एक साधु बहुत बीमार हालत में पड़े हैं। उनकी सेवा करने वाला कोई नहीं है, अतः उन्हे बहुत अधिक कष्ट हो रहा है।

नदिसेन मुनि को जैसे ही यह समाचार मिले कि वे तुरन्त उन रोगी साधु की सेवा करने के लिए चल पड़े। मुनि मन ही मन विचारने लगे—'मेरा सौभाग्य है कि मुझे साधु सेवा का ऐसा सुअवसर हाथ आया है।'

इस प्रकार विचार कर नंदिसेन मुनि रोगी साधु की सेवा करने के लिए जगल मे पहुँचे। मुनि उस कपटी वेषधारी रोगी साधु की ओर ज्यों-ज्यो आगे जाने लगे त्यो त्यों उन्हे अधिकाधिक दुर्गन्ध आने लगी। परन्तु नंदिसेन मुनि उस असह्य दुर्गन्ध से न घबरा कर रोगी साधु के समीप पहुँच गये। नदिसेन मुनि को आते देख कर वह साधु वेषधारी देव क्रुद्ध होकर कहने लगा—'तुम क्यो इतनी देरी करके आये? मुझे कितना कष्ट हो रहा है, इसका तुम्हे ख़याल ही नहीं है? सेवाभावी कहलाते हो और सेवा करने के समय इतना विलम्ब करते हो!' साधु रूपधारी देव इस प्रकार कहकर नंदिसेन को उपालंभ देने लगा।

यद्यपि देव ने अपना शरीर घृणोत्पादक बनाया था और उसके शरीर से दुस्सह दुर्गन्ध फूट रही थी, फिर भी नंदिसेन मुनि दुर्गन्ध से न घबरा कर उसकी सेवा करने के लिए उस के पास गये। मगर पास पहुँचते ही वह देव नाराज होकर उपालंभ देने

लगा। उपालंभ सुनकर नंदिसेन मुनि तनिक भी नाराज न हुए। उल्टे विलम्ब के लिए क्षमायाचना करने लगे। उन्होंने सेवा करने की आज्ञा देने की भी मांग की।

नंदिसेन की बात सुनकर देव ने कहा—देखते नहीं, मेरा शरीर कितना कृश, दुर्बल और अस्वस्थ बन गया है। शरीर की सेवा करने के सिवाय और क्या आज्ञा तुम चाहते हो ?

मुनि ने विचार किया-अगर मैं नगर में दवा लेने जाऊंगा तो बहुत देरी लगेगी। ऐसा विचार कर उन्होंने देव से कहा—अगर आप नगर में चले तो ?

देव--मेरे पैरों में चलने की शक्ति होती तो तुम्हारी सहायता की आवश्यकता ही क्या थी ?

मुनि-मेरे पैर भी तो आपके ही हैं। आप मेरे कंधे पर बैठ जाइए। मैं उठाकर नगर तक ले चलूँगा।

देव-मेरे हाथों में भी तो शक्ति नहीं है। तुम्हारे कंधे पर चढ़ूँ तो कैसे चढ़ूँ ?

मुनि-तो क्या हानि है ? मैं खुद ही अपने कंधे पर बिठला लूँगा।

सच्चा सेवक अपनी शक्ति को दूसरों की ही शक्ति मानता है और अपना तन, मन पर की सेवा के लिए समर्पित कर देता है। सेवा का यह आदेश अगर जनसमाज के हृदय में अंकित हो जाय तो यह संसार स्वर्ग बन जाय।

नंदिसेन मुनि ने उस देव को अपने कंधे पर चढ़ा लिया। देव ने नंदिसेन मुनि को सेवा की प्रतिज्ञा से विचलित करने के लिए

अपने शरीर में से रक्त और पीव की धारा बहाई. मगर नंदिसेन मुनि अपनी सेवा भावना को स्थिर और दृढ़ करते हुए देव के दुर्गन्धमय शरीर को उठाकर नगर में ले गये। देव के शरीर से निकलती दुर्गन्ध के कारण तथा देव की प्रेरणा से प्रेरित होकर नगरजन मुनि से कहने लगे-'आप ऐसे रोगी मनुष्य को नगर मे नहीं ले जा सकते। एक रोगी के पीछे अनेको को रोगी नही बनाना चाहिए।'

नागरिक जनों का विरोध देखकर मुनि की स्थिति कितनी बेढंगी हो गई होगी ? ऐसी विषम स्थिति में मुनि के मन में अनेक प्रकार के तर्क वितर्कों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। परन्तु उन्होंने खोटा तर्क-वितर्क नहीं किया। वे समभावपूर्वक नागरिक लोगों की बात सुनते रहे। मुनि ने मन ही मन विचार किया—'मैं नगरजनो को भी दुखी नहीं कर सकता और इस रोगी साधु की सेवा का भी परित्याग नहीं कर सकता। हे प्रभो! ऐसी विकट स्थिति में क्या करूँ?'

नंदिसेन मुनि इस प्रकार विचार कर रहे थे। इतने में साधु वेषधारी देव ने भी विचार किया-'ऐसी विषम परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी इन मुनि के हृदय में सेवा के प्रति उतना ही दृढ़ विश्वास है। वास्तव में इन मुनि की सेवाभावना अत्यन्त उच्च कोटि की है। इन्द्र महाराज ने इनकी सेवाभावना की जितनी प्रशंसा की थी, वास्तव में मुनि का सेवाभाव वैसी ही प्रशंसा का पात्र है।' इस प्रकार विचार करके साधु वेषधारी देव, साधुवेष का त्याग करके, अपने स्वाभाविक रूप में नीचे उतरा और मुनि के पैरों पर गिरकर कहने लगा-हे मुनिपुंगव! आपकी सेवाभावना की जैसी प्रशंसा इन्द्र महाराज ने की थी, आप वैसे ही सेवामूर्ति हैं। आपने सेवा

द्वारा देवों को भी जीत लिया है। सेवा करने वाला देवों को भी जीत लेता है। शास्त्र में भी कहा है:—

देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।

अर्थात्—जिनका मन धर्म में सदा अनुरक्त रहता है; उन्हें देवता भी नमस्कार करते हैं।

वैयावृत्य करने वाले व्यक्ति के आगे देव भी नतमस्तक हो जाते हैं तो साधारण लोग अगर सेवाभावी को नमस्कार करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? सेवाभावी व्यक्ति को मन में किसी प्रकार का छल-कपट नहीं रखना चाहिए। जिनके मन में विकार-भाव नहीं होता, देव भी उनकी सेवा करते हैं। अतएव मन को पवित्र रक्खो।

नंदिसेन मुनि के मन में कपटभाव नहीं था और न घृणा-भाव ही था। इसी कारण उसकी सेवावृत्ति सफल हुई।

तीर्थङ्कर बनना तो सभी को रुचता है मगर तीर्थङ्कर पद प्राप्त करने के लिए सेवा करना रुचता है या नहीं, यह देखो। सेवाकार्य कितना कठिन है, इस सम्बन्ध में कहा है:—

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा,
धृष्टः पार्श्वे वसति नियतं दूरतश्चाप्रगल्भः।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः,
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः॥

इस श्लोक का सार यह है कि सेवाधर्म बड़े-बड़े योगी महात्माओं के लिए भी अगम्य होता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए कवि कहता है—सेवक जब चुप रहता है तो स्वामी उसे गूंगा कहता है। स्वामी का यह कथन सुनकर सेवक मन में विचार करता है कि मेरे मुख से कोई अनुचित शब्द न निकल जाए, यह सोचकर मैं चुप रहता था परन्तु चुप रहने से स्वामी मुझे गूंगा कहते हैं। तो फिर मुझे बोलना चाहिए। इस प्रकार विचार कर सेवक अगर बोलने लगता है तो स्वामी कहता है—यह सेवक तो बहुत ही बकवाद करता है। चुप रहना जानता ही नहीं। इस प्रकार सेवक चुप रहता है तो गूंगा कहलाता है और अगर बोलता है तो बकवादी कहलाता है। अगर सेवक, स्वामी के पास खड़ा रहता है तो स्वामी उसे निर्लज्ज कहता है। अगर दूर रहता है तो उसे काम-चोर की पदवी से विभूषित किया जाता है। इस प्रकार स्वामी के पास खड़ा रहने पर भी उसे उपालंभ मिलता है और पास न खड़ा रहने पर भी उपालंभ मिलता है। इसके अतिरिक्त सेवक अगर स्वामी की कोई बात शान्तिपूर्वक सहन कर लेता है तो वह डरपोक कहलाता है। अगर स्वामी की बात सुनकर उत्तर देता है तो स्वामी उसे कुलहीन कह देता है। इस प्रकार सेवक को स्वामी की बात सुन लेने पर भी मुसीबत है और न सुनने पर भी आफत है। इन सब बातों के कारण ही यह कहा गया है कि सेवाधर्म योगियों के लिए भी अगम्य है। सेवाकार्य करना बहुत कठिन है। महान् कार्य का फल महान् ही होता है। सच्ची सेवा करने से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है। तीर्थंकर पद प्राप्त होना ही सेवा का महान् से महान् फल है।

जिस व्यक्ति पर सेवा का जितना भार है वह अपनी शक्ति के अनुसार जितनी ज्यादा सेवा करता है, वह उतने ही परिमाण में बड़ा सेवक है। राजा-महाराजा भी एक प्रकार से प्रजा के सेवक ही हैं, क्योंकि उनके ऊपर प्रजा की सेवा करने का भार है। प्रजा की सेवा करना राजा-महाराजा का धर्म है—कर्त्तव्य है। जो राजा या महाराजा कुशलतापूर्वक प्रजा की सेवा करता है वह प्रजा का महान् सेवक है। लोग उन्हीं की प्रशंसा करते हैं जो अधिक से अधिक सेवा बजाते हैं। जिस प्रकार प्रजा की सेवा करना राजा का कर्त्तव्य है उसी प्रकार राजा की सेवा करना प्रजा का कर्त्तव्य है। राज्य के नीति-नियमों का भलीभाँति पालन करना, यही राजा की सेवा करना है। तुम लोग जब न्याय-नीति का बराबर पालन करो, पर-धन को धूल समान और परस्त्री को माता के समान मानो, तभी यह कहा जा सकता है कि तुम राजा की सेवा करते हो। परधन को धूल समान और परस्त्री को माता समान मानने की नीति अगर अपने जीवन में अमल में लाओगे तो जनसमाज की और अपनी खुद की भी सेवा कर सकोगे और साथ ही साथ आत्मकल्याण भी साध सकोगे। अगर तुममें परधन को लूटने की और पर स्त्री पर कुदृष्टि डालने की भावना न हो तो देव भी तुम्हे सेवाधर्म से विचलित नहीं कर सकता। क्यों कि उस समय तुम्हारे अन्तर में सच्ची सेवा-भावना जागृत हुई होगी और जिसमें सच्ची सेवा भावना जागृत हो जाती है उसे कोई भी देव चलायमान नहीं कर सकता, जैसे नंदिसेन मुनि को देव चलायमान नहीं कर सका था।

सेवा करना भी तप है। वैयावृत्य-सेवा की गणना आभ्यन्तर तप में की गई है। बाह्य तप की अपेक्षा आभ्यन्तर तप से

आत्मा की अधिक शुद्धि होती है। महावीर भगवान् ने तप की खूब महिमा बतलाई है। तपश्चरण द्वारा अवश्य ही आत्मकल्याण होता है। आत्मा के कल्याण का तप अमोल साधन है। जो पुरुष तपोमार्ग को अपना कर अपनी और जगत् की सेवा करता है, वह स्व-पर का कल्याण साधन करता है। सेवा आत्मा और परमात्मा के बीच संबंध स्थापित करने वाली सांकल है। इस सांकल के द्वारा आत्मा और परमात्मा के बीच संबंध जोड़ोगे तो कल्याण होगा



४८

चवालीसवां बोल ।

सर्वगुणसम्पन्नता

सच्ची सेवा करने वाले को तीर्थंकर पदवी प्राप्त होती है और परिणामस्वरूप वह सर्वगुणसम्पन्न हो जाता है। अतएव गौतम स्वामी सर्वगुणसम्पन्नता के विषय में भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं:—

मूलपाठ

प्रश्न—सर्वगुणसम्पन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ?

उत्तर—सव्वगुणसंपन्नयाए अपुणरावित्तिं जणयइ, अपुणरावित्तिं पत्तएयणं जीवे सारीराणं माणसाणं दुक्खाणं नो भागी भवइ ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! सर्व गुण प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—ज्ञान आदि सर्वगुणों की प्राप्ति होने से संसार में फिर नहीं आना पड़ता और फिर न आने से जीव शारीरिक और मानसिक दुःखों से मुक्त हो जाता है।

व्याख्यान

सब गुणो का भिन्न-भिन्न वर्णन करना कठिन है, अतएव संग्रहनय की दृष्टि से, समुच्चय रूप में यहां यह प्रश्न पूछा गया है कि सर्वगुणसम्पन्नता से जीव को क्या लाभ होता है ? जैसे किसी वस्तु की वानगी द्वारा हजारों-लाखों मन वस्तु का सौदा हो सकता है, उसी प्रकार समस्त गुणों को ज्ञान, दर्शन और चारित्र–इस रत्नत्रय में संग्रह कर लिया गया है और कहा गया है कि ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र में–रत्नत्रय में–सभो गुणो का समावेश हो जाता है।

जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही जानना ज्ञान गुण है। वस्तु का सिर्फ ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से काम नहीं चल सकता, अतएव दूसरा गुण दर्शन कहा गया है। जो वस्तु जैसी है, उसे उसी रूप में श्रद्धान करना अर्थात् मानना दर्शनगुण या सम्यक्त्वगुण है। लेकिन वस्तु का ज्ञान और श्रद्धान कर लेने से भी काम नहीं चल सकता, अतएव तीसरा गुण चारित्र कहा गया है। जिस वस्तु को जिस रूप में जाने और माने, उसी रूप में उसका व्यवहार करना चारित्र गुण है।

शास्त्र में ज्ञान दर्शन और चारित्र के भी भेद बतलाए गए है। ज्ञानगुण के मुख्य रूप से पांच भेद कहे गए हैं। यहां आशंका हो

सकती है कि जब किसी वस्तु को जानना ज्ञान है तो फिर ज्ञान में भेद किस अभिप्राय से किये गये हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वास्तव में तो ज्ञान एक ही है, परन्तु कर्मों के क्षयोपशम और क्षय की भिन्नता के कारण ज्ञान में भी भेद किये गये हैं। ज्ञान के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान-यह पाँच भेद किये गये है। इनमे से पहले के चार ज्ञान क्षायोपशमिक है और पांचवां ज्ञान क्षायिक है। यह पाचों ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भागो मे भी विभक्त किये गये हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं और बाकी के तीन ज्ञान प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष ज्ञान के भी दो भेद हैं—एक विकलपारमार्थिक प्रत्यक्ष और दूसरा सकलपारमार्थिकप्रत्यक्ष। अवधिज्ञान और मनःपर्याय ज्ञान विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष है और केवलज्ञान सकलपारमार्थिकप्रत्यक्ष है।

मतिपूर्वक होने के कारण मतिज्ञान, मतिज्ञान कहलाता है। उसका दूसरा नाम आभिनिबोधिकज्ञान भी है। मतिज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है। यह ज्ञान एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीवों को होता है। यह ज्ञान जब मिथ्यात्व से युक्त होता है तो मिथ्याज्ञान कहलाता है और सम्यक्त्व-युक्त होने पर सम्यग्ज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान, अज्ञान (मिथ्याज्ञान) के रूप में तब परिणत होता है, जब ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम के साथ मिथ्यात्व का उदय होता है। ज्ञानावरण का उदय होने के कारण यह ज्ञान, अज्ञान नहीं कहलाता वरन् मिथ्यात्व के उदय से ही यह अज्ञान कहलाता है। ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से ज्ञान तो होता है मगर मिथ्यात्व के उदय के कारण पदार्थों का ज्ञान विपरीत होता है। मिथ्यात्व के उदय से सीधी वस्तु भी उलटी मालूम होती है। उदाहरणार्थ—काच सफेद और स्वच्छ होने पर भी अगर

काच के सामने दूसरे रंग की कोई चीज रख दी जाय तो काच भी उसी रंग का दिखाई देने लगता है। सफेद काच अगर दूसरे रंग का दिखाई देता है तो इसमें काच का कोई दोष नहीं है, दोष तो दूसरी चीज की उपाधि का है। इसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर भी मिथ्यात्व के उदय के कारण सुलटी वस्तु भी उलटी जान पड़ती है और इसी कारण वह ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहलाता है।

श्रुतज्ञान मे सुनने की शक्ति है और मतिज्ञान मे मनन करने की शक्ति है। इसी कथन पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि शास्त्र में सभी संसारी जीवो को मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का होना कहा है, किन्तु जिन जीवों के श्रोत्रेन्द्रिय नहीं है, वे किस प्रकार सुन सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शास्त्र में दो प्रकार की इन्द्रियाँ कही गई है–(१) द्रव्येन्द्रिय और (२) भावेन्द्रिय। यह दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ सभी जीवो को होती है। संसार मे एक भी ऐसा जीव नही है जिसे द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय सर्वथा न हो। अतएव यहाँ इन्द्रियजन्य ज्ञान के विषय मे जो कथन किया गया है वह भावेन्द्रिय जनित ज्ञान समझना चाहिए।

केवलज्ञान स्थापना रूप है और श्रुतज्ञान साव्यवहारिक है। हम लोगो को श्रुतज्ञान से ही लाभ होता है। केवलज्ञानी सभी कुछ जान देख लेते हैं, परन्तु वे जो कुछ देखते है, वह उपदेश मे तो श्रुतज्ञान के रूप मे ही परिणत होता है। और ऐसा होने के कारण ही केवलज्ञानी का दर्शन और ज्ञान दूसरो के लिए लाभकारी हो सकता है। इस प्रकार शेष चार ज्ञान श्रुतज्ञान के आश्रित हैं, अतः हमे श्रुतज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

यहाँ एक प्रश्न चर्चा का उत्पन्न होता है। वह यह है कि ज्ञान तो उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है और बुद्धि विकसित होती जाती है, अतएव ज्ञान बढ़ने से पहले जो कुछ भी देखने जानने में आया था, वह क्या मिथ्या था ? इस कथन का उत्तर यह है कि पहले हृदय सरल हो और वस्तु का स्वरूप निष्कपटभाव से माना हो, तो फिर ज्ञान में वृद्धि होने पर भी पहले का ज्ञान मिथ्या नहीं है। अर्थात् ज्ञान की वृद्धि होने से पहले भी अगर समभाव मौजूद है तो ज्ञान अल्प होने पर भी मिथ्या नहीं, वरन् सम्यग्ज्ञान ही है। पहले का जानना भी ज्ञान था और बाद में जानना भी ज्ञान ही है, क्योंकि समभाव तो वही है जो पहले था। सम्यक्त्व द्वीन्द्रिय जीव मे भी होता है, अतएव ऐसा नहीं समझना चाहिए कि अब ज्ञान बढ जाने से हम कुछ और ही देखने लगे है और पहले जो जानते थे वह अज्ञान था। बुद्धि के क्षयोपशम से आज जो वस्तु जिस रूप मे दिखाई देती है, वह वस्तु बुद्धि का अधिक क्षयोपशम होने पर दूसरे रूप में दिखाई देती है, परन्तु समभाव तो वही का वही है। अतएव पहले का जानना-देखना भी ज्ञान में ही है—अज्ञान मे नहीं। हृदय सम और सत्यमय होने के कारण जो कुछ देखा जाना जाता है, वह अज्ञान नहीं, ज्ञान ही है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के बीच का अन्तर जानने के लिए शास्त्र में कहा गया है:—

माई मिच्छादिट्ठी, अमाई सम्मादिट्ठी।

अर्थात्—कपटभाव न रखना ही समभाव है और कपट रखना मिथ्यात्व है। अतएव किसी प्रकार मिथ्या विचार मन में न रखते हुए ज्ञान प्राप्त करने के लिए अग्रसर रहना चाहिए।

कहने का आशय यह है कि श्रुतज्ञान और मतिज्ञान दोनो परोक्ष है, किन्तु उपकारी श्रुतज्ञान ही है। सभी ज्ञान श्रुतज्ञान के आश्रित हैं। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे सभी गुणों का समावेश हो जाता है। आत्मा जब सर्वगुणसम्पन्न बन जाता है तब उसके लिये कुछ भी करना अवशेष नहीं रहता। जब आत्मा सब गुणों को प्राप्त करता है, तब जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय में गौतम स्वामी द्वारा महावीर भगवान् से पूछे गये प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि जीवात्मा सर्वगुणसम्पन्न होने के कारण अपुनरावृत्त गति अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है। पूर्णता का फल पूर्ण ही मिलता है। कहा भी है:—

पूर्णात् पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

अपुनरावृत्ति हो जाने अर्थात् पुनर्जन्म का अभाव हो जाने पर शारीरिक अथवा मानसिक किसी भी प्रकार के दुःख उत्पन्न नहीं होते। जो अपुनरावृत्त गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, वह शरीर और मन से उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के दुःखो से मुक्त हो जाता है। क्योंकि दुःखो का कारण शरीर और मन ही है और अपुनरावृत्त गति मे न शरीर रह जाता है और न मन ही। अतएव मुक्तात्मा को शारीरिक और मानसिक दुःख भी नहीं सहन करने पड़ते।

उपर्युक्त कथन से कोई यह न समझ बैठे कि एकेन्द्रिय जीव मन रहित है अतएव उसे दुःख नहीं होता। एकेन्द्रिय जीव के द्रव्य-मन नहीं होता तो क्या हुआ, अध्यवसायरूप भावमन तो होता ही है। अतएव मन मे संकल्प होने के कारण पैदा होने वाला दुःख एकेन्द्रिय जीव में भी होता है। दुःख मन मे संकल्प के कारण ही उत्पन्न होता है।

कुछ लोगों का कहना है-हमें अमुक प्रकार के दुःख सहने पड़ते हैं परन्तु वे दुःख आये कहाँ से है। मन में संकल्प होने से ही तो वे उत्पन्न हुए हैं। अतएव मन में खराब संकल्पों को स्थान नहीं देना चाहिए। मन में से असत् संकल्पों को दूर करके मन को परमात्मा के ध्यान में पिरो देना चाहिए। ऐसा करने से दुःख का संस्कार ही समूल नष्ट हो जाएँगे। जब संस्कार ही समूल नष्ट हो जाएँगे तो फिर दुःख कहाँ से उत्पन्न होगा ? बीज के जल जाने पर वृक्ष किस प्रकार पैदा हो सकता है ?

इस प्रकार सेवा का फल परम्परा से मिलता है। जो समस्त दुःखों से मुक्त होना चाहता होगा वही वैयावृत्य-सेवा करेगा। सेवाधर्म स्वीकार करने से शाश्वत सुख की उपलब्धि होती है। सेवाधर्म का महत्व समझकर अपना जीवन सेवामय बनाओ और सर्व गुणों को प्राप्त करो। इसी में स्व-पर कल्याण है।



पैतालीसवां बोल ।

वीतरागता

सर्वगुणसम्पन्नता शब्द आज सस्ता हो गया जान पड़ता है। आज चाहे जिस साधारण मनुष्य के लिए भी 'आप सर्वगुण-सम्पन्न हैं' ऐसा कहा जाता है। परन्तु इस शब्द की महत्ता देखते हुए मालूम होता है यह शब्द चाहे जिसके लिए प्रयोग करने योग्य नहीं है। जो वास्तव में 'सर्वगुणसम्पन्न' बन जाता है, उस मनुष्य के लिए फिर कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता। जो वास्तव में सर्वगुण-सम्पन्न बन जाता है, वह वीतराग बन जाता है। और इसी कारण सर्वगुणसम्पन्नता के अनन्तर गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से वीतरागता के विषय में प्रश्न किया है।

मूलपाठ

प्रश्न—वीयरागयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—वीयरागयाए णं नेहासु बंधणाणि य, तण्हासु बंधणाणि य, वोच्छिंदिय मणुण्णामणुण्णेसु सद्द-फरिस-रूव-रस-गंधेसु चेव विरज्जइ।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! वीतरागता से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर—वीतरागता से स्नेह तथा तृष्णा के बंधन छेद डालता है। तथा मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श आदि विषयो में वैराग्य पाता है।

व्याख्यान

वीतरागता सभी वस्तुओ की अपेक्षा श्रेष्ठ है, यह बात प्रसिद्ध है। फिर भी यहाँ वीतरागता के फल के विषय मे क्यों प्रश्न किया गया है? वीतरागता के फल पर विचार करने से पहले इस प्रश्न का समाधान करना आवश्यक है। इस प्रश्न का समाधान यह है कि क्रिया का फल अवश्य मिलता है, यह बतलाने के लिए यह प्रश्न पूछा गया है। प्रत्येक क्रिया फलवती होती है। कोई भी क्रिया निष्फल नही जाती। मानो यही बात स्पष्ट करने के लिए यह प्रश्न किया गया है।

जब सर्वगुणसम्पन्नता प्राप्त होती है तो वीतरागता आती ही है। और जब वीतरागता प्रकट होती है तो सर्वगुणसम्पन्नता भी होनी ही चाहिए। राग द्वेष की मौजूदगी में सर्वगुणसम्पन्नता का प्राप्त होना जैनशास्त्र को मान्य नहीं है। संभव है, यह बात भी बतलाने के लिए गौतम स्वामी ने भगवान् से यह प्रश्न पूछा हो।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—हे गौतम! जब आत्मा राग-द्वेष से रहित होकर वीतरागभाव में आता है, तब स्नेह और तृष्णा के कारण बँधने वाले कर्मबंधनो का विच्छेद हो जाता है। राग का और तृष्णा का पूर्ण रूप से

विच्छेद वीतरागभाव उत्पन्न होने के बाद ही हो सकता है। वीतराग बनने का मार्ग राग और तृष्णा का विच्छेद करने से ही सरल बनता है। तृष्णा और स्नेह का जितना जितना विच्छेद होता जायगा, आत्मा उतना ही उतना उन्नत बनता जायगा। और जब तृष्णा तथा राग पूर्ण रूप से नष्ट हो जायगा तो आत्मा वीतराग-अवस्था प्राप्त कर लेगा।

वीतरागता प्राप्त हो गई है, इस बात का पता केवल आध्यात्मिक भावरूप मे ही नहीं चलता वरन् व्यावहारिक रूप में भी चल जाता है। जब इन्द्रियों के शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श इन पांचो विषयों को पूर्ण रूप से जीत लिया जाय तभी समझना चाहिये कि वीतरागता प्रकट हुई है। जब तक कोई वस्तु मनोज्ञ (पसन्द) या अनमोज्ञ (नापसन्द) मालूम होती है, तब तक आत्मा में राग-द्वेष की विद्यमानता समझनी चाहिए। जब न कोई वस्तु मनोज्ञ प्रतीत हो, न अनमोज्ञ प्रतीत हो, सब वस्तुओं में पूर्ण समभाव हो, तभी आत्मा में वीतरागता प्रकट हुई समझना चाहिए।

आत्मा में वीतरागता प्रकट हुई है या नहीं, इस बात की जाँच करने के लिये शास्त्रकारो ने यह उपाय बतलाया है। जब इन्द्रियों के विषय मनोज्ञ या अनमोज्ञ जान पड़े तब समझ लेना चाहिए कि आत्मा में अभी तक वीतरागता प्रकट नहीं हुई है। और जब इन्द्रियों के विषय मनोज्ञ और अमनोज्ञ न मालूम हों, विषम नहीं किन्तु सम प्रतीत हो तो समझना चाहिए कि आत्मा में वीतरागता प्रकट हो गई है। वीतरागता प्रकट हुई या नहीं, यह बात जानने के लिए शास्त्रकारो ने यह थर्मामीटर बतलाया है।

इन्द्रियों के जो पाँच विषय हैं, उनके सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त ऐसे तीन भेद किये गये हैं। यह तीन भेद कहकर यह

बतलाया है कि शब्द, रूप, रस आदि विषयों में से कोई भी विषय मनोज्ञ या अमनोज्ञ प्रतीत न हो तो समझना चाहिए कि आत्मा में वीतरागता प्रकट हुई है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि शब्द आदि मे सचित्त, अचित्त तथा सचित्ताचित्त का भेद किस प्रकार होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव शब्द का अर्थ कहा जाय तो वह शब्द सचित्त है। अजीव शब्द कहा जाय तो वह अचित्त शब्द है और वंशी शब्द कहा जाय तो वह सचित्ताचित्त शब्द है। इसी प्रकार रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि के भी तीन तीन भेद हैं। इन तीनों भेदों के साथ वस्तु मनोज्ञ है या अमनोज्ञ है, इस प्रकार की मान्यता से निवृत्ति होना वीतरागता है।

इस सम्बन्ध में अन्य प्रकार का तर्क भी किया जा सकता है। परन्तु आत्महितैषियों को किसी प्रकार के तर्क-वितर्क में न पड़कर ऐसा मानना चाहिए—

महाजनो येन गतः स पन्थाः।

अर्थात्—जिस मार्ग पर महापुरुष चले हैं, उसी मार्ग पर हमे चलना चाहिए और उसी पर चलने में हमारा कल्याण है।

महापुरुषों द्वारा बतलाया मार्ग कौन-सा है ? इस विषय में एक बार बालगंगाधर तिलक तथा भाण्डारकर के बीच वादविवाद हुआ था। भाण्डारकर का कहना था कि जिस मार्ग पर महाजन-समुदाय चलता हो वही महाजन का मार्ग है। इसके विरुद्ध तिलक का कहना था कि जनसमुदाय में अधिकांश लोग असत्य बोलते हैं, चोरी करते हैं और अप्रामाणिक व्यवहार करते हैं। तो क्या असत्य

भाषण करना, चोरी करना और अप्रामाणिक रहना ही महाजनों का मार्ग होना चाहिए ? इसी प्रकार अधिकांश लोग भोगी है, त्यागी नहीं, तो क्या भोगी बनना ही महाजनों का मार्ग है ?

महाजन कौन है ? इस बात का निर्णय करने के लिये अगर ब्रह्मपुराण में ब्रह्मा का चारित्र देखा जाय तो उसमें बड़ी ही भयंकरता दिखाई देता है। ब्रह्मा अपनी ही पुत्री पर मुग्ध हो गया था, यह भी उल्लेख पाया जाता है। अगर विष्णु का स्वरूप समझने के लिए विष्णुपुराण देखा जाय तो उसमें विष्णु की लीला का ऐसा वर्णन पाया जाता है कि उनकी लीला के मार्ग को यदि महाजन का मार्ग मान लिया जाय तो वैसी लीला करने वाला मनुष्य और अधिक पतित हो जायगा। शिवचरित पर दृष्टिपात किया जाय तो शिवपुराण में शिव को श्मशानवासी कहा है। तो शिव का अनुकरण करके क्या सभी लोग श्मशानवासी बन जाएँ ? क्या यह संभव है ? महाजन का मार्ग तो ऐसा सुगम होना चाहिए कि इसे सभी लोग सरलतापूर्वक अपना सकें। अतएव यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किस व्यक्ति द्वारा निर्दिष्ट मार्ग को महाजन का मार्ग समझा जाय ? इस प्रश्न का निश्चयात्मक उत्तर यही हो सकता है कि जिस मार्ग पर चलने से बहु-जनसमाज का सच्चा कल्याण होता हो वही महाजन का मार्ग है। असत्य या अन्याय को अनेक लोगों ने भले ही अपनाया हो परन्तु वह मार्ग जनसमुदाय के लिए कल्याणकारी नहीं हो सकता। इसलिए जिस मार्ग पर चलने से जनता का कल्याण होता हो वही महाजन का निर्दिष्ट मार्ग है।

यह तो तिलक और भाण्डारकर के वाद विवाद की बात हुई। परन्तु मेरी दृष्टि से अठारह दोषों से रहित वीतराग का मार्ग

ही महाजन का मार्ग है। हम लोग ऐसे वीतराग महापुरुष को ही महाजन और उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग को ही महाजन का मार्ग कहते हैं। वीतराग के मार्ग पर चलने वाले का सदा कल्याण ही हुआ है। कभी अकल्याण नहीं हुआ।

शास्त्रकारों का कथन है कि इन्द्रियों के विषय—शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श—चाहे भले हो या बुरे हों, उनके प्रति समभाव रहना चाहिए, विषमभाव नहीं। ऐसा होने पर समझना चाहिए कि वीतराग भाव आ गया है। समभाव का अर्थ यह नहीं है कि अमृत को विष और विष को अमृत मानना चाहिए और ऐसा मानकर उन्हें खा जाना चाहिए। परन्तु समभाव का अर्थ यह है कि चाहे अमृत हो चाहे विष हो, पर दोनों के प्रति समभाव रखना चाहिए। समभाव रखने से विष भी अमृत और आग भी शीतल हो जाती है। सीता में समभाव होने के कारण ही अग्नि उसके लिए शीतल बन गई थी। मीरा के समभाव ने विष को भी अमृत के रूप में परिणत कर लिया था। इसी प्रकार तुम समभाव रक्खो और भक्तों की भाँति परमात्मा से प्रार्थना करो:—

> परुष वचन अति कठिन श्रवण सुनि, तेहि पावक न दहौंगो,
> विगत मान सम शीतल मन पर, गुण अवगुण न गहौंगो।

अर्थात्—चाहे जैसे कठोर और कर्णकटु शब्द सुनाई दें परन्तु अगर तुममें समभाव होगा तो ज्ञानी जन कहते हैं कि तुम उन कठोर शब्दों को भी कर्णप्रिय बना सकोगे। अतएव समभाव रक्खो तो कल्याण ही होगा।

वीतरागधर्म समभाव का विधान करता है। समभाव के द्वारा वीतरागभाव प्रकट होता है। अतएव हृदय में समभाव र

कर वीतरागभाव प्रकटाओगे तो स्व-पर-कल्याण साधन कर सकोगे।

राग और द्वेष, यह दोनों कर्म के बीज हैं। इन कर्मबीजों को संसार का बीज भी समझना चाहिए, क्योंकि जब तक राग और द्वेष के बीज मौजूद हैं तब तक कर्म के अंकुर फूटते ही रहते है और जब तक कर्म के अंकुर फूटते रहते है तब तक संसार-वृक्ष फलता-फूलता रहता है। संसार के बंधनों से मुक्त होने के लिए सर्वप्रथम राग-द्वेष के बंधनों से मुक्त होना आवश्यक है। वीतराग और वीतद्वेष हुए बिना कोई मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। जीवन को रागरहित बनाने के लिए शास्त्रकारों ने अनेक उपाय बतलाये है। सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन मे बतलाये हुए ७३ बोल वीतराग और वीतद्वेष बनने के ही उपाय हैं। कषाय का त्याग करने से जीवन मे वीतरागता प्रकट होती है, यह बात शास्त्र मे स्पष्ट रूप से कही गई है। फिर भी इस पैंतालीसवें बोल मे यह प्रश्न किया गया है कि वीतरागता प्रकट होने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए टीकाकार कहते है—शास्त्र का यह ध्येय है कि शब्द बढ़ जाएँ तो भले ही बढ जाएँ। इसमे कोई हानि नहीं। पर शास्त्र की बात सब की समझ में आ जानी चाहिए। यह बात दृष्टि मे रखकर ही शास्त्र में एक ही बात को विशेष स्पष्ट करने के लिए दो तीन बार कह देते हैं। ऐसा करने से पुनरुक्ति होती है परन्तु जनसमुदाय के लाभ के लिए की जाने वाली पुनरुक्ति दोषपात्र नहीं गिनी जाती।

इसके अतिरिक्त कषाय का प्रश्न द्वेष-आश्रित है और वीतरागता का प्रश्न राग-आश्रित है। इस दृष्टि से विचार करने पर यहाँ पुनरुक्ति भी नहीं है।

शास्त्रकार का कथन है कि राग का त्याग करना जित
कठिन है, उतना कठिन द्वेष का त्याग करना नहीं है। इसी कार
मुक्तात्मा वीतराग कहलाते हैं, वीतद्वेष नहीं। क्योंकि द्वेष की अपे
राग का त्याग कठिन है और राग का त्याग तभी हो सकता
जब द्वेष का त्याग कर दिया जाय। सोने का त्याग करना जितन
कठिन है, लोहे का त्याग करना उतना कठिन नहीं है। इसी प्रक
द्वेष की अपेक्षा राग का त्याग कठिन है। जिस प्रकार समभा
उत्पन्न होने से सोना और लोहा समान मालूम होता है उसी प्रक
जीवन में समभाव प्रकट होने के बाद राग और द्वेष-दोनों व
त्याग करना कठिन नहीं रह जाता। यद्यपि राग से भी पुण्योपार्ज
हो सकता है, परन्तु जो आत्मा मुक्त होना चाहता है, वह न
पुण्योपार्जन करना चाहता है और न पापोपार्जन करना चाहता है
वह तो पाप और पुण्य-दोनों को कर्म मान कर छोड़ना चाहता है
मोक्षाभिलाषी आत्मा को न किसी वस्तु पर राग करने की आव
श्यकता है और न किसी पर द्वेष करने की आवश्यकता है। उदा
हरणार्थ—मनुष्य जब गृहस्थावस्था में होता है तब वह लोहे क
त्याग करके भले ही सोने का संग्रह करे; परन्तु जो साधु होन
चाहता है उसके लिए दोनों ही—सोना भी और लोहा भी—त्याज
हैं। इसी प्रकार जो मुक्त होना चाहता है वह मोक्षाभिलाषी आत्म
तो राग और द्वेष—दोनों का ही त्याग करता है। जिस प्रका
सोने का त्याग करना मुश्किल है और इसी कारण साधु महात्म
कंचन-कामिनी के त्यागी कहलाते हैं, उसी प्रकार राग का त्या
करना भी मुश्किल है और इसी कारण राग-द्वेष के त्यागी क
वीतराग कहते हैं।

छ्यालीसवाँ बोल

क्षमा

पतालीसवें बोल में वीतरागता के फल के विषय मे प्रश्न पूछा गया है। वह प्रश्न राग को दृष्टि में रखकर ही किया गया है। क्योंकि कषाय का सम्बन्ध राग-द्वेष के साथ है। जब तक जीवन मे वीतरागभाव नहीं आता तब तक इष्ट गंध, इष्ट रस आदि से रागभाव नहीं छूटता। रागभाव का त्याग करने से जीवात्मा क्षमाशील बन जाता है। जीवन में जब वीतरागभाव प्रकट होता है, तब क्षमा का गुण भी प्रकट होता है। अतएव छ्यालीसवें बोल मे गौतम स्वामी क्षान्ति (क्षमा) के विषय में प्रश्न पूछते हैं।

मूलपाठ

प्रश्न—खंतीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—खंतीए परीसहे जिणइ ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! क्षमा धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—क्षमा द्वारा जीव परीषहों पर विजय प्राप्त करता है।

व्याख्यान

क्षान्ति का अर्थ है-क्षमा। क्षमा धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है, यह प्रश्न गौतम स्वामी ने पूछा है। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया है कि परिषहों पर विजय पाना क्षमा कहलाता है।

क्षमा धारण करना और परीपहो को जीतना-इन दोनों का वाच्यार्थ भिन्न भिन्न होने पर भी दोनों का लक्ष्यार्थ एक ही है। क्षमा अर्थात् समतापूर्वक परीषहों को जीतना और परीषहों को समभाव से सहन करना अर्थात् क्षमा रखना। इस प्रकार क्षमा और परीषह जय का अविनाभाव संबंध है। यह तो क्षमा के सामान्य अर्थ पर विचार किया गया। परन्तु यहाँ विचारणीय यह है कि क्षमा को साधु के दस प्रकार के धर्मों मे प्रथम स्थान किस कारण दिया गया है? भगवान् ने क्षमा को इतना महत्व क्यों दिया है?

राग और द्वेष जीत लिये गये हैं या नहीं, इसकी जाँच करने की कसौटी क्षमा है। जब मनुष्य राग-द्वेष को जीत लेता है तभी वह साधुपन पालने योग्य होता है। रागद्वेष को जीते विना साधुता की प्रवृत्ति तो जीवात्मा ने चिरकाल तक की होगी, परन्तु यह प्रवृत्ति लाभदायक तभी हो सकती है, जब राग और द्वेप पर विजय प्राप्त कर ली जाय।

क्षमा के द्वारा ही राग-द्वेष जीते जा सकते है। सब गुणों मे क्षमा-गुण प्रधान है। जब तक राग-द्वेष को जीतकर क्षमा गुण न धारण किया जाय तब तक दूसरे कोई सद्गुण नहीं आ सकते। जीवन मे क्षमा गुण प्रकट होने के बाद ही अन्य गुण प्रकट होते है। इसी कारण गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया है कि क्षमागुण से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

यहाँ एक शंका यह उपस्थित होती है कि गौतम स्वामी ने क्षमा के विषय में किस उद्देश्य से प्रश्न पूछा है? इस शंका का समाधान यह है कि फल को जाने बिना मूर्ख भी किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं करता। न्याय का सिद्धान्त भी यही है। जब मूर्ख भी बिना फल के जाने किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता तो बुद्धिमान् पुरुष फल को बिना जाने कैसे प्रवृत्त होगा? इसी कारण गौतम स्वामी ने क्षमा के फल के विषय में भगवान् से प्रश्न पूछा था। यह नहीं समझना चाहिए कि गौतम स्वामी क्षमा से होने वाले लाभ को जानते नहीं थे और इसी कारण उन्होंने यह प्रश्न किया है। गौतम स्वामी विशिष्ट ज्ञानी थे और क्षमा के फल को भलीभाँति जानते थे। फिर भी उन्होंने भगवान् से प्रश्न इसलिए किया था कि ऐसा प्रश्न करने से 'मैं सब कुछ जानता हूँ' ऐसा ज्ञानाभिमान गल जाय।

इस प्रकार गौतम स्वामी स्वयं जानते हुए भी भगवान् से प्रश्न पूछ कर, किसी प्रकार का बदला लिये बिना ही जगत् के जीवों की ओर से वकालत करते थे। किसी भी प्रकार का बदला लिये बिना, पराये काम को अपना ही काम समझकर करना, बिना आत्मबल के सम्भव नहीं है। अतएव इसी बात से गौतम स्वामी के आत्मबल का पता लग जाता है। वे चार ज्ञान के धनी और घोर तपस्वी थे। यह असंभव है कि वे क्षमा गुण से होने वाले लाभ को जानते न हों। ऐसी सब बातें जानते हुए भी सिर्फ जगत् के जीवों के हित के लिए ही उन्होंने क्षमा से होने वाले लाभ के विषय में भगवान् से प्रश्न पूछा है! गौतम स्वामी और भगवान् महावीर के बीच के प्रश्नोत्तर को अगर तुम एकाग्रचित्त होकर सुनोगे तो इनमें रहे हुए रहस्य को समझ सकोगे। तुम जब अविच्छिन्न चित्त से शास्त्र की बात सुनोगे तो ही तुम्हें शास्त्रश्रवण का यथार्थ लाभ प्राप्त हो सकेगा।

क्षमा गुण मे महान शक्ति विद्यमान है। परन्तु इस शक्ति को प्राप्त करने के लिये पात्र बनने की आवश्यकता है। पात्र बने विना कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं की जा सकती। गुणों को धारण करने के लिए पात्रता प्राप्त करना चाहिए। आत्मा क्षमा द्वारा गुणों को ग्रहण करने का और गुणों को धारण करने का पात्र बनता है। इसी लिए श्रीदशवैकालिकसूत्र में कहा है:—

पुढवीसमा मुणी हवेज्जा।

अर्थात् हे मुनि! तुम पृथिवी के समान बनो।

मुनियो को पृथिवी के समान बनने के लिए क्यों कहा गया है? इसलिए कि पृथ्वी सब को आधार देती है। संसार में एक भी वस्तु ऐसी नहीं, जो पृथ्वी का आधार लिये विना टिक सकती हो। पृथ्वी प्रत्येक वस्तु को आधार देती है। इसी प्रकार क्षमा भी प्रत्येक छोटे-बड़े गुणों को आधार देती है। क्षमा के विना आत्मा में कोई भी गुण नहीं टिक सकता। मोक्ष के मार्ग पर चलने में क्षमा पाथेय के समान तो है ही, परन्तु संसार-व्यवहार में भी क्षमा की अत्यन्त आवश्यकता है। जो मनुष्य सहनशील-क्षमाशील नहीं होता, उसमें व्यावहारिक गुण भी नहीं टिक सकते। तुम अहमदाबाद में पैसा कमाने आये हो, अतः इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए तुम्हें क्षमाशील और सहनशील रहना ही पड़ता है। जब व्यवहार में भी इस प्रकार की क्षमा और सहनशीलता की आवश्यकता रहती है तो फिर आध्यात्मिक गुणों को टिकाये रखने के लिए क्षमा की आवश्यकता रहना स्वाभाविक ही है। अतएव सद्गुणों को अपने आत्मा मे स्थान देने के लिए प्रत्येक आत्महितैषी को सहनशील और क्षमावान् बनना चाहिए।

तुम्हें इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए कहा जाय तो तुम किसे महान् कहोगे ? महात्मा को महान् कहोगे या विजयी योद्धा को महान् कहोगे ? इस विषय में शास्त्र तो स्पष्ट रूप से कहता है:-

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणिज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ॥

—उत्तराध्ययन. ९ अ०

अर्थात्—दस लाख सुभटों को दुर्जय संग्राम में जीतने की अपेक्षा एक मात्र आत्मा को जीतना अधिक उत्तम है और यही श्रेष्ठ विजय है। यही बात अधिक स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार आगे कहते हैं:—

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ।
अप्पणामेवमप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए॥

—उत्त० अ० ९ गा० ३५

अर्थात्—आत्मा के साथ युद्ध करो। बाहरी युद्ध में क्या रक्खा है ! शुद्ध आत्मा द्वारा दुष्ट प्रकृति वाली आत्मा को जीतकर ही सुख प्राप्त किया जा सकता है। दुर्जय आत्मा को किस प्रकार जीत सकते हैं, यह बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं:—

पंचिंदियाणि कोहं माणं मायं तहेव लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वं अप्पे जिये जियं॥

—उत्त० अ० ९ गा० ३६

अर्थात्—पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया और लोभ तथा दुर्जय आत्मा को जीतना ही उत्तम है। क्योंकि आत्मा को जीत लिया तो सभी को जीत लिया।

मुमुक्षु आत्मा बाह्य युद्ध की अपेक्षा कर्मशत्रुओं को परास्त करने के लिए आन्तरिक युद्ध करना ही पसंद करते हैं। क्योंकि बाह्य युद्धों की विजय क्षणिक होती है और परिणाम मे परिताप ही उपजाती है। इस विजय से बाह्य युद्धों की परम्परा का जन्म होता है और कभी युद्ध से विराम नहीं मिलता। साथ ही इस वासना के कारण ही अनेक जन्म लेने पड़ते हैं। अतएव बाह्य शत्रुओं को उत्पन्न करने वाले भीतरी-हृदय मे घुसे हुए शत्रुओं का नाश करने के लिए प्रयास करना ही मुमुक्षु का कर्त्तव्य है।'

सच्चा जैन निरन्तर जीवनसंग्राम में संलग्न रहता है। वह कायर बन कर घर मे नहीं बैठ रहता। वह हाथ में क्षमा रूपी खड्ग लेकर कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करके अपना जैनत्व चमकाता है। जैन होकर भी कायर बन कर बैठ जाने से और आन्तरिक शत्रुओं को परास्त करने का प्रयत्न न करने से जैनत्व की शोभा घटती है। प्राचीन काल के जैन जैनत्व की रक्षा के लिए प्राण भी अर्पण कर देते थे. मगर जैनत्व को तनिक भी फीका नहीं पड़ने देते थे। आजकल कायरता के कारण जैनो का जैनत्व फीका पड़ गया है। इसी कारण वीरोचित अहिंसा, क्षमा आदि को भी निर्बलता का चिह्न समझा जाता है। वास्तव मे अहिंसा या क्षमा निर्बलो के शस्त्र नहीं है। यह तो वीर पुरुषो के शस्त्र है। तलवार चाहे जितनी तीखी धार वाली क्यों न हो, अगर वह कायर के हाथ मे जाती है तो निकम्मी हो जाती है। वही तलवार जब किसी वीर पुरुष के हाथ आती है तो अपने जौहर दिखलाती है। इसी प्रकार अहिंसा और क्षमा के शस्त्र कायरो के हाथ पड़कर निष्फल साबित होते हैं और वीर पुरुषों के हाथ लग कर अमोघ शस्त्र सिद्ध होते है। यह सचाई आज प्रत्यक्ष अनुभव की जा सकती है। जैन लोग

ार अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करना चाहते हों तो उन्हें अपने जैनत्व
तेज प्रकट करना चाहिए। जैनों का जैनत्व, क्षत्रियों के क्षत्रियत्व
जरा भी हल्का नहीं है। बल्कि जैनत्व में अहिंसक क्षात्रत्व होने
कारण वह अधिक तेजस्वी है। जैन अर्थात् विजेता। सच्चा
जेता वही है जो कर्मशत्रुओं के साथ सदैव जीवनसंग्राम लड़ता
। वह किन-किन शस्त्रों द्वारा अहिंसक युद्ध लड़ता है, यह बतलाते
: शास्त्रकार कहते हैं :—

सद्धं नगरं किच्चा तवसंवरमग्गलं।
खंतिं निउणपागारं तिगुत्तं दुप्पधंसयं॥
धणुं परक्कमं किच्चा जीवं च इरियं सया।
धिइं च केयणं किच्चा सच्चेण पलिमंथए॥
तव–नारायजुत्तेणं भित्तूण कम्मकंचुयं।
मुणी विगयसंगामो भवाओ परिमुच्चई॥

—उत्तरा० अ० ६ गा० २०–२१–२२।

अर्थात्—श्रद्धा (सत्य पर अडिग विश्वास) रूपी नगर,
-संवर रूपी आगल, क्षमा रूपी सुन्दर गढ़, तीन गुप्ति (मन,
वचन, काय का नियमन) रूपी दुःप्रधर्ष (दुर्जय शतघ्नी–शस्त्रविशेष),
राक्रम रूपी धनुष, ईर्या (यतनापूर्वक गमन) रूपी डोरी और
र्य रूपी बाण यानि तीर बना कर सत्य-चिन्तन करना चाहिए।
ोंकि तपश्चर्या रूपी बाणों से युक्त मुनि, कर्म को भेद कर संग्राम
विजय प्राप्त करता है और संसार से मुक्त हो जाता है।

ऊपर की गाथाओं में शास्त्रकार ने यह बतलाया है कि
त्याग्रह-संग्राम अहिंसक होने पर भी कितना विजयशील होता है।

आजकल होने वाले हिंसात्मक युद्धों में लाखों-करोड़ों मनुष्यों का संहार होता है और युद्धभूमि रक्तरंजित हो जाती है। फिर भी नहीं कहा जा सकता कि विजय किसे प्राप्त होगी ? भौतिक युद्ध में हिंसा होती है, राग-द्वेष बढ़ते हैं और फलस्वरूप जगत् में अशान्ति का साम्राज्य फैल जाता है। परन्तु इस अहिंसक संग्राम में किसी का एक बूँद भी रक्त नहीं गिरता, सुखशान्ति का प्रसार होता है, क्लेश नहीं बढ़ता और जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत होता है। यह सब अहिंसा देवी और क्षमा माता का ही प्रताप है। आज भी अगर थोड़ी-बहुत सुख-शान्ति का अनुभव होता है तो उसका अधिकांश श्रेय अहिंसा तथा क्षमा देवी के ही हिस्से में जाता है। जगत् में अहिंसा और क्षमा का अस्तित्व न रहे तो जगत् की शान्ति सर्वथा अदृश्य हो जाय। आजकल भी अहिंसा-क्षमा आदि आध्यात्मिक गुणों के कारण ही शान्ति का अनुभव होता है।

हिंसा के प्रयोग से अथवा हिंसक अस्त्र-शस्त्रों से प्राप्त की जाने वाली विजय सदा के लिए स्थायी नहीं रहती। प्रेम और अहिंसा द्वारा हृदय में परिवर्तन करके जनसमाज के हृदय पर जो प्रभुत्व स्थापित किया जाता है, वही सच्ची और स्थायी विजय है। कहा भी है :—

न हि वेरेण वेराणि समन्तीध कदाचन।

अर्थात् वैर का बदला वैर से लेने पर जगत् में कभी वैर घट नहीं सकता। उलटा वैर बढ़ता है। वैर की शान्ति तो अवैर से होती है। प्रेम के द्वारा ही दूसरों के हृदय पर प्रभुत्व स्थापित किया जा सकता है। यह सच्ची और स्थायी विजय है। और ऐसी सच्ची एवं स्थायी विजय प्राप्त करना ही जैनधर्म या सनातनधर्म है।

आजकल 'क्षमा' शब्द हास्यास्पद बन गया है। कितनेक लोग क्षमा को निबलों का शस्त्र मानते हैं तो कुछ लोग उसे कायरता का चिह्न समझते हैं। परन्तु वास्तव में 'क्षमा' निर्बलों का नहीं वरन् सबलों का अमोघ शस्त्र है और वीर पुरुषों का भूषण है। कायर पुरुषों ने अपनी कायरता के कारण क्षमा को लजाया है, परन्तु सच्चे वीर पुरुषों ने क्षमा को अपनी मुकुटमणि बना कर सुशोभित किया है। क्षमा सबलों का शास्त्र है। कायर लोग क्षमाबल का उपयोग कर ही नहीं सकते। इसी कारण कहा गया है:—'खमा पहुस्स' अर्थात् समर्थ पुरुष ही क्षमा धारण कर सकते हैं।

क्षमा आध्यात्मिक शब्द है। जहाँ गौतम स्वामी जैसे प्रश्नकर्त्ता और भगवान् महावीर सरीखे उत्तरदाता हों वहाँ आध्यात्मिक बात के सिवाय दूसरी बात हो ही नहीं सकती। ऐसे जगदुद्धारक महापुरुषों के प्रश्नोत्तर आध्यात्मिक ही हो सकते हैं। जैसे कोई भोला बालक सादी भाषा में प्रश्न पूछता है, उसी प्रकार गौतम स्वामी, भगवान् से सीधी-सादी भाषा में पूछ रहे हैं—क्षमा का फल क्या है? गौतम स्वामी के इस सरल प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने सरल भाषा में उत्तर दिया—क्षमा धारण करने से जीव परीषहों को जीत सकता है।

भगवान् ने परीषहों की बात कही है। मगर हमें सर्वप्रथम यह जान लेना चाहिए कि परीषहों का अर्थ क्या है? परीषह की व्याख्या करते हुए कहा गया है—'परि-समन्तात् सहति इति परिषहः।' अर्थात् सम्यक् प्रकार से कष्टों को सहन करना परीषह है। अज्ञानपूर्वक तो बहुत से लोग कष्ट सहन करते हैं, परन्तु उसकी गणना परीषह में नहीं की जाती। परीषह में उन्हीं कष्टों की गणना की जाती है जो ज्ञानपूर्वक सहन किये जाते हैं। ज्ञानपूर्वक-

कष्ट सहन तभी हो सकता है जब क्षमा विद्यमान हो। क्षमा धारण किये बिना सम्यक् प्रकार से कष्ट सहन नहीं हो सकता। श्री उत्तराध्ययन के द्वितीय अध्ययन में परीषह के बाईस भेद बतलाये गये हैं और उनके विषय में सुन्दर विवेचन किया गया है। परीषह के बाईस प्रकार इस तरह हैं:—(१) क्षुधा का परिषह (२) पिपासा प्यास का परिषह (३) शीत का परिषह (४) ताप का परिषह (५) डांस-मच्छर का परिषह (६) अवस्त्र का परिषह (७) अरति (अप्रीति) का परिषह (८) स्त्री का परिषह (९) चर्या-गमन का परिषह (१०) बैठक का परिषह (११) आक्रोश-वचन का परिषह (१२) वध का परिषह (१३) शय्या का परिषह (१४) याचना का परिषह (१५) अलाभ का परिषह (१६) रोग का परिषह (१७) तृणस्पर्श का परिषह (१८) जल मैल का परिषह (१९) सत्कार पुरस्कार अर्थात् मानापमान का परिषह (२०) प्रज्ञा-बुद्धि का परिषह (२१) अज्ञान का परिषह (२२) अदर्शन का परिषह।

उपर्युक्त परिषहों में क्षुधा का परिषह सब से पहला है। भूख के दुःख को सम्यक् प्रकार से सहन करना क्षुधा परिषह है। संसार में भूख के दुःख से व्याकुल होकर लोग ऐसी चीज भी खा लेते हैं, जिसके देखने मात्र से दूसरों को घृणा उत्पन्न होता है। क्षुधा का दुःख न सह सकने के कारण ही लोग अपने प्राणप्रिय बालक को भी मार कर खा जाते हैं, ऐसा सुना जाता है। इस प्रकार क्षुधा का परिषह सब में विकट है। महान् तपस्वी तथा क्षमाशील पुरुष ही क्षुधा परिषह को समतापूर्वक सहन कर सकते हैं। क्षुधा परिषह को जीतने के लिए शास्त्रकार खाने की मनाई नहीं करते। खाने की मनाई करने का फलितार्थ होगा मरने के लिए कहना। क्योंकि जो भोजन करता ही नहीं अथवा जिसने भोजन का

त्याग किया है, वह भूखा कितने दिन रहेगा ? किसी अवधि के बाद तो उसे मरण-शरण होना ही पड़ेगा। इसलिए शास्त्रकार यह नहीं कहते कि 'तुम खाओ ही नहीं' अथवा 'भोजन का सर्वथा त्याग कर दो।' शास्त्रकार यह कहते है कि क्षुधा को जीतो और क्षमा द्वारा क्षुधा परिषह पर विजय प्राप्त करो और यह समझो कि 'मै जो कुछ खाता हूँ सो इस शरीर रूपी गाड़ी को चलाने के लिए ही खाता हूँ।' जैसे गाड़ी चलाने के लिए पहिये के चक्र मे तेल लगाया जाता है, उसी प्रकार मै इस शरीर रूपी गाड़ी को चलाने के लिए उदर रूपी चक्र में भोजन रूपी तेल लगाता हूँ। ऐसा विचार करके इतना ही परिमित भोजन करना चाहिए जिससे शरीर-चक्र बराबर काम देता रहे।

मुनिजन किस उद्देश्य से भोजन करते हैं, यह बात बताने के लिये शास्त्र में एक छोटा-सा दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार गृहस्थ अपने घर के पास के गड्हे को सुखपूर्वक आवागमन करने के उद्देश्य से पूर देता है उसी प्रकार मुनिजन उदर रूपी गड्हे को संयम रूपी गाड़ी चलाने के लिये ही भरते हैं। इस तरह जो मुनि संयम के निर्वाह के लिए ही भोजन करता है वह क्षमा द्वारा क्षुत्परिषह को सहन कर सकता है। मुनियो में कैसी क्षमा होती है, यह तो उनके आचार-विचार से ही जाना जा सकता है। जब मुनि भिक्षाचर्या के लिए जाते है तब कितनेक लोग कर्णकटु शब्द कहते हैं, लेकिन क्षमाशील मुनि उन कर्णकठोर शब्दो को समताभाव के साथ सहन कर लेते हैं। सच्चे साधु को न भोजन देने वाले पर राग होता है और न कटु शब्द कहने वाले पर द्वेष ही होता है। चक्रवर्त्ती राजा भी छह खंड के वैभव का त्याग करके साधुता अंगीकार करता है और घर-घर भिक्षा के लिए जाता है। तब उस मुनि को भी

कोई कहता है—'राज्य भोगते भोगते भिक्षा मांगने की मन में आई है! साधुपना निकम्मा है।' इत्यादि। इससे विपरीत कोई साधुवृत्ति की प्रशंसा करके उसके पैरों में गिरता है। तब शास्त्र कहता है—हे मुनि! तुम किसी के प्रति राग द्वेष मत करो। कटुक शब्द कहने वाले या निंदा करने वाले पर द्वेष न करना और प्रशंसा करने वाले पर राग न करना ही साधु का लक्षण है।' इस प्रकार निंदा-प्रशंसा के शब्द सुनने पर भी राग-द्वेष मन में न आने देना क्षमा का ही प्रताप है।'

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्षमा के द्वारा परिषह जीत लेने से आत्मा की कैसी अवस्था होती है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि लौकिक विजय प्राप्त करने से जैसी प्रसन्नता होती है और जिस प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है, वैसी ही प्रसन्नता और वैसा ही आनन्दानुभव क्षमा द्वारा परिषह को जीत लेने पर होता है। लौकिक विजय की अपेक्षा यह लोकोत्तर विजय महान् है। अतएव लौकिक विजय के आनन्द की अपेक्षा लोकोत्तर विजय का आनन्द अधिक होता है। यह बात स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है।

मान लीजिये, एक योद्धा शत्रु पर विजय प्राप्त करके किसी महात्मा के पास गया। वह योद्धा महात्मा को ध्यान में मग्न देखकर कहने लगा—महात्मन्! आप तो घर में ही घुसे रहकर ध्यान में मगन रहते हो और कोई पराक्रम नहीं दिखलाते, मगर हम तो शत्रुओं के मध्य में जाकर उनके शस्त्र अस्त्र के प्रहार और आघात सहन करते हैं। और शत्रुओं को परास्त करके उन पर विजय प्राप्त करते हैं। अब आप ही बतलाइये कि ऐसी स्थिति में वास्तव में महान् कौन है? हम बड़े या आप?

लाखों सुभटों को जीतने की अपेक्षा एक दुर्जय आत्मा को जीतना अधिक कठिन है। आत्मा वास्तव में दुर्दम है। जो महापुरुष आत्मा को जीतकर जितेन्द्रिय और जितात्मा बन जाता है, वह वंदनीय हो जाता है। अतः आत्महितैषी को चाहिए कि वह अपनी आत्मा को अपने अधीन बनाने का प्रयत्न करे। शास्त्र में कहा भी है :—

> अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
> अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य॥

अर्थात्—आत्मा ही वास्तव में दमन करने योग्य है, क्योंकि आत्मा दुर्दम है। जो दुर्दम आत्मा का दमन करते हैं वे इस लोक में भी सुखी होते हैं और परलोक मे भी।

इस प्रकार शास्त्रकारो ने जितात्मा बनने और आत्मविजय प्राप्त करने की ही प्रशसा की है। आत्मविजय में ही समस्त विजयों का समावेश हो जाता है। आत्मविजयी जितात्मा लाखों योद्धाओं को जीतने वाले योद्धा की अपेक्षा अधिक विजयी गिना जाता है। जितात्मा की ही सर्वत्र पूजा होती है और इसी कारण सम्राट् की अपेक्षा परिव्राट् की पदवी ऊँची मानी गई है।

सुभट की अपेक्षा साधु और सम्राट् की अपेक्षा परिव्राट् इसीलिए वंदनीय और पूजनीय है कि एक तो क्षेत्र विजय प्राप्त करता है और दूसरा क्षेत्री पर जयलाभ करता है। क्षेत्र या शरीर पर प्रभुत्व जमा लेना कोई बड़ी बात नहीं है। परन्तु क्षेत्री अर्थात् आत्मा पर विजय पा लेना अत्यन्त ही कठिन है।

इस प्रकार सुभटो पर विजय पाना सरल है। मगर काम-क्रोध आदि को जीतना बड़ा ही कठिन कार्य है। कहा जाता है कि

यह सुनकर परीक्षक ने कहा–इतने बड़े हो गए हो और इतने वर्ष पढ़ते पढ़ते हो गए हैं फिर भी अब तक वाक्य बनाना नहीं आता ! ठीक बताओ कि तुम क्या सीखे हो ?

युधिष्ठिर ने पट्टी के ऊपर 'कोपं मा कुरु' लिख दिया और परीक्षक के सामने रखते हुए कहा–इतना सीखा है।

पहिले भारतवर्ष में संस्कृत भाषा प्रचलित थी। लोग संस्कृत भाषा सीखते थे। आज तो संस्कृतभाषा का स्थान अंग्रेजी भाषा ने ले लिया है और संस्कृतभाषा को लोग Dead Language अर्थात् मृतभाषा कहते है। अंग्रेजी भाषा जानने वाले को अच्छी नौकरी मिलेगी, ऐसा कुछ लोग मानते है और कुछ लोग उसे संस्कृत भाषा की अपेक्षा अच्छी और समृद्ध भी मानते हैं। किन्तु यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। अपनी मातृभाषा की बेकद्री करना और विदेशी भाषा की कद्र करना भूल है। तुम्हार हृदय में अपनी माता का स्थान ऊँचा है या दासी का ? अगर तुम्हारे हृदय में माता के लिए उच्च स्थान है तो मातृभाषा के लिए भी ऊँचा स्थान होना चाहिए। मातृभाषा माता के स्थान पर है और विदेशी भाषा दासी के स्थान पर। दासी कितनी ही सुरूपवती और सुघड़ क्यों न हो माता का स्थान कदापि नहीं ले सकती।

प्राचीन समय में इस देश में संस्कृत भाषा प्रचलित थी और इसी भाषा में शिक्षा दी जाती थी। आज की तरह उस समय विदेशी भाषा का महत्व या प्रभुत्व नहीं था। अतएव युधिष्ठिर ने संस्कृत भाषा में, अपनी पट्टी पर 'कोपं मा कुरु' अर्थात् क्रोध मत करो, ऐसा लिख रक्खा था।

युधिष्ठिर की पाटी पर लिखा हुआ यह वाक्य पढ़कर परीक्षक ने कहा—'बस, इतना ही आता है ?'

युधिष्ठिर—अभी तो इतना भी ठीक तरह नहीं आता।

परीक्षक—(क्रुद्ध होकर) इतना भी अभी याद नहीं हुआ?

युधिष्ठिर—बाहर से तो इतना लेख याद हो गया है, परन्तु अन्दर से याद नहीं हुआ।

यह सुनकर परीक्षक और अधिक कुपित हो गया, उसने क्रोध में आकर युधिष्ठिर को मारना आरम्भ किया। यद्यपि युधिष्ठिर राजपुत्र था और चाहता तो परीक्षक को उचित दंड दिला सकता था; परन्तु उसने क्रोध का उत्तर क्रोध से नहीं वरन् शान्ति से दिया। अर्थात युधिष्ठिर पूर्ववत प्रसन्नचित्त ही बना रहा। युधिष्ठिर को मार खाने के बाद भी प्रसन्नचित्त बैठे देखकर परीक्षक ने शिक्षक से कहा—'कैसा है यह कि मारने पर भी प्रसन्न दिखाई देता है!' शिक्षक ने कहा—'युधिष्ठिर की ऐसी ही प्रकृति है। ऐसी प्रकृति वाले का पढ़ाया भी कैसे जाय!' परीक्षक ने युधिष्ठिर से पूछा—तुम्हें इतना पीटा गया फिर भी तुमने क्रोध नहीं किया। इससे तो यह जान पड़ता है कि तुम पाटी पर लिखे वाक्य को अमल में ला रहे हो! इस कथन के उत्तर मे युधिष्ठिर ने बतलाया—अभी मैं इस वाक्य को सिद्ध नहीं कर सका हूँ। मैं ऊपर से तो क्रोध नहीं कर रहा था मगर भीतर ही भीतर मुझे क्रोध आ रहा था। मैं मन में यह सोच रहा था कि मुझे मारने वाला यह होता कौन है? अर्जुन और भीम सरीखे बलवान् मेरे भाई हैं और भविष्य में मैं राज्याधिकारी होने वाला हूँ; फिर मुझे पीटने वाला यह होता कौन है? इस प्रकार मेरे हृदय में क्रोध की अग्नि भड़की थी। अतएव अभी मैं 'कोप मा कुरु' इस वाक्य को सिद्ध नहीं कर सका हूँ। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मैं इसे सिद्ध कर सकूं!

युधिष्ठिर के यह नम्र वचन सुनकर परीक्षक गद्‌गद हो गया और कहने लगा—युधिष्ठिर ! वास्तव मे तुमने सच्चा शिक्षा ग्रहण की है। तुमने सक्रिय ज्ञान प्राप्त किया है। लोग वाक्यों को कंठस्थ तो कर लेते हैं मगर हृदय मे नहीं उतारते। तुमने अपना ज्ञान हृदय तक पहुँचाकर क्रिया में परिणत किया है। अतएव तुम्हारा थोड़ा-सा भी ज्ञान सक्रिय होने के कारण सच्चा ज्ञान है।

आज जगत् में ऐसे सक्रिय ज्ञान की ही आवश्यकता है। तोता रटत ज्ञान से इष्टसिद्धि नहीं हो सकती। इष्टसिद्धि तो सक्रिय ज्ञान से ही हो सकती है अतएव सक्रिय ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है।

परीक्षक युधिष्ठिर की सहिष्णुता तथा सत्यवादिता से अत्यन्त प्रसन्न होकर कहने लगा—हे युधिष्ठिर ! तू क्रोध-विजेता और सत्यभाषी है, अतएव ससार को भी जीत सकेगा। युधिष्ठिर इस प्रकार सहनशील तथा सत्यभाषी होने के कारण ही आगे चल कर धर्मराज के रूप में प्रसिद्ध हुए।

शास्त्रकारों ने क्रोध, मान, माया और लोभ को संसार का मूल प्रकट किया है। इन चार कषायों से ही पापों की वृद्धि होती है। शास्त्र मे कहा भी है:—

कोहं माणं च मायं च लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हियमप्पणो ॥

—दश० ८, ३७.

अर्थात्—क्रोध, मान, माया तथा लोभ, यह चार दोष पापवर्धक तथा संसारवर्धक हैं। अतएव आत्मा का हित चाहने

वाले को इन चार कषाय रूपी दोषों का सर्वथा त्याग करना चाहिए। क्योंकि:—

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो॥

—दस० ८, ३८

अर्थात्—क्रोध प्रीति का नाश करता है मान विनय का नाश करता है, माया मित्रों की मित्रता का नाश करती है और लोभ तो सर्वविनाशक है। अतएव—

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायामज्जवभावेण, लोभ संतोसओ जिणे॥

—दस० ८, ३९

अर्थात्—उपशम-क्षमा द्वारा क्रोध को दूर करना चाहिए, नम्रता द्वारा अभिमान को हटाना चाहिए, सरलता द्वारा माया को जीतना चाहिए और संतोष द्वारा लोभ को जीतना चाहिए।

क्रोध, मान, माया तथा लोभ—यह चार कषाय भवचक्र में भ्रमण कराते हैं। अगर हम भवचक्र में भ्रमण नहीं करना चाहते और आत्मा को शान्ति देना चाहते हैं तो क्षमा आदि साधनों द्वारा क्रोध आदि कषायों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। क्षमा द्वारा क्रोध किस प्रकार जीता जा सकता है, यह बात युधिष्ठिर के जीवन से समझी जा सकती है। युधिष्ठिर की भाँति 'कोपं मा कुरु' इस धर्म शिक्षा को अगर तुम अपने हृदय में उतार कर सक्रिय रूप दोगे तो तुम भी धर्मात्मा बनकर आत्म-कल्याण साध सकोगे।

क्रोध आदि को जीतने का मार्ग तो बतलाया परन्तु क्रोध आदि के उत्पन्न होने पर किस प्रकार सहनशीलता और क्षमा धारण करना चाहिए, यह बात खंधक मुनि के उदाहरण द्वारा समझाता हूँ। सहनशीलता सीखने के लिए खंधक मुनि की सहनशीलता अपने लिए आदर्श है। इस आदर्श का अनुसरण करने में ही अपना कल्याण है।

खंधक मुनि गृहस्थावस्था मे राजकुमार थे। वे राज काज करने में निपुण थे। उनके राज्यसंचालन से प्रजा संतुष्ट और सुखी थी। एक बार उन्हें किसी विद्वान् मुनि का उपदेश सुनने का अवसर मिल गया। मुनिवर के उपदेश का प्रभाव उनके जीवन पर पड़ा। उन्होंने विचार किया—मैं अपनी धीरता और वीरता का उपयोग केवल दूसरों के ही लिए करता हूँ। यह योग्य नहीं है। मुझे अपने इन गुणों का उपयोग अपनी आत्मा के लिए भी करना चाहिए। इस प्रकार विचार कर उन्होंने अपने माता-पिता से अनुरोध किया—'मैं आत्मा का श्रेयस् करना चाहता हूँ; अतएव ऐसा करने की आज्ञा दीजिए।' माता-पिता ने कहा—'पुत्र! तू आत्मा का श्रेयस् करना चाहता है, यह अच्छी बात है। प्रसन्नतापूर्वक ऐसा कर।' खंधकजी बोले—'संसार में रहकर आत्मश्रेयस् साधना मुझे कठिन प्रतीत होती है, अतएव मैं संसार का त्याग करके आत्म कल्याण करने की इच्छा करता हूँ।' पुत्र का यह कथन सुनकर उनके माता-पिता दुखित होकर कहने लगे—'बेटा! संसार का त्याग थोड़े ही हो सकता है।' खंधकजी बोले—'ऐसा है तो आप यह कहिए कि आत्मकल्याण न साधं। अथवा यह कहिए कि संसार का त्याग करके आत्मकल्याण नहीं किया जा सकता।' खंधकजी का यह कथन सुनकर माता पिता उनका निश्चय और सदाशय

समझ गए और उन्होंने संसार-त्याग करके आत्मकल्याण करने की आज्ञा दे दी। साथ ही यह कहा--'बेटा ! तू क्षत्रियपुत्र है। अतएव सिंह की भाँति संसार का त्याग करना और सिंह की भाँति ही संयम का पालन करना।' खंधकजी ने माता-पिता की शिक्षा शिरोधार्य करते हुए कहा--आपका कथन समुचित है। मैं आपके आदेशानुसार संयम-पालन में सिंहवृत्ति धारण करने का अभ्यास करूँगा और प्राणपन से संयम का पालन करूँगा।

खंधकजी ने उत्साह और वैराग्य के साथ संयम स्वीकार किया। पिता ने विचार किया—'खंधक ने आज तक किसी प्रकार का कष्ट सहन नहीं किया है। अतएव मुझे ऐसी व्यवस्था कर देनी चाहिए कि उसे किसी प्रकार का उपद्रव न सतावे।' इस प्रकार विचार करके पिता ने पुत्रमोह से प्रेरित होकर पाँच सौ सैनिकों की व्यवस्था कर दी। ऐसा प्रबन्ध किया गया कि खंधकजी को इस बात का पता न लगे मगर उनकी बराबर रक्षा होती रहे। सैनिक गुप्त रूप से खंधक मुनि के साथ रहने लगे। खंधक मुनि को इन रक्षक सैनिकों का पता नहीं था। वह तो यही मानते थे कि मेरी रक्षा करने वाला मेरा आत्मा ही है, दूसरा कोई नहीं है। इस प्रकार खंधक मुनि तपश्चरण करके आत्मकल्याण करने लगे और आत्मा को भावित करते हुए ग्रामानुग्राम विचरने लगे।

विहार करते-करते वे अपनी संसारावस्था की बहन के राज्य में पधारे। उनके पीछे गुप्त रूप से चले आने वाले सैनिक विचारने लगे-अब खंधकजी अपनी बहन के राज्य में आ पहुँचे हैं। अब किसी प्रकार के उपद्रव की संभावना नहीं है। इस प्रकार निश्चिन्त होकर सैनिक अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार दूसरे

कार्यों में लग गए। इधर खंधक मुनि आत्मा और शरीर का भेद-विज्ञान हो जाने के कारण तपश्चरण द्वारा शरीर को सुखा कर आत्मा को बलवान् बनाने में लगे हैं।

एक बार खंधक मुनि भिक्षाचरी करने के लिए राजमहल के पास से निकले। उस समय राजा और रानी राजमहल की अटारी पर बैठकर नगर निरीक्षण करने के साथ ही साथ मनोविनोद कर रहे थे। रानी की दृष्टि अकस्मात् मुनि के ऊपर पड़ गई। मुनि को देखते ही रानी विचारने लगी—मेरा भाई भी इन्हीं मुनि की तरह भ्रमण करता होगा। इस तरह विचारमग्न होने के कारण रानी क्षण भर के लिए मनोविनोद और वाणी वलास को भूल गई। राजा ने देखा-साधु को देखकर रानी मुझे भूल गई है और दूसरे ही विचारों में डूब गई है। यह साधु शरीर से तो कृश है पर ललाट इसका तेजस्वी है। इस मुंडित साधु के प्रति रानी का प्रेमभाव तो नहीं होगा ? इस विषय में दूसरों की सलाह लेना भी अनुचित है। अतएव किसी और से पूछने की अपेक्षा इस साधु को समाप्त कर देना ही ठीक है। इस प्रकार विचार कर राजा ने नौकर (चाण्डाल) को बुलाकर आज्ञा दी—उस साधु को वधभूमि पर ले जाओ और मार कर उसकी खाल उतार लाओ।

राजा की यह कठोर आज्ञा सुनकर चाण्डाल काँप उठा। वह मन ही मन विचार करने लगा—आज मुझे कितना जघन्य काम सौंपा गया है। मैं चाकर हूँ अतएव यह काम किये बिना छुटकारा नहीं। अगर मैं राजा की आज्ञा का उल्लंघन करता हूँ तो मैं उनका कोप-भाजन बनूंगा और शायद मुझे प्राणदण्ड दिया जायगा। इस प्रकार विचार कर वह खंधक मुनि के पास आया और उन्हें पकड़ने लगा। मुनि ने पूछा—मुझे किस कारण पकड़ा जा रहा है ? चांडाल

नें कहा—'राजा ने पकड़ने की आज्ञा दी है। अतएव चुपचाप मेरे पीछे चले आओ।' मुनि ने पूछा—'चलना कहाँ है ?

चांडाल—श्मशानभूमि में।

मुनि—किसलिए ?

चांडाल—राजा की आज्ञा के अनुसार वहाँ तुम्हारा वध किया जायगा और तुम्हारे शरीर की खाल उतारी जाएगी।

यह हृदयविदारक वचन सुनकर मुनि को आघात पहुँचना स्वाभाविक है। परन्तु खंधक मुनि को शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान था। अतएव वह विचारने लगे—यह शरीर नश्वर है। किसी न किसी दिन जीर्ण-शीर्ण हो जायगा। ऐसी स्थिति मे अगर आज ही यह नष्ट होता है तो इसमें मुझे दुःख मानने की क्या आवश्यकता है ? मेरा आत्मा तो अजर-अमर है। उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता। इस प्रकार विचार करके और धैर्य धारण करके खंधक मुनि चुपचाप नौकर के पीछे-पीछे चलने लगे। जब दोनो वधस्थल पर पहुँचे तो मुनि ने चाण्डाल से कहा-'भाई ! मेरे शरीर मे रक्त नहीं है, इस कारण चमड़ी हाड़ो के साथ चिपट गई है। तो खाल उधेड़ने के लिए कोई साधन साथ मे लाए हो या नहीं ? अगर कोई साधन नही लाये हो तो तुम्हे बहुत कष्ट होगा।' मुनि का यह मार्मिक कथन सुनकर वह लज्जित हो गया। वह मन में विचार करने लगा-'कितना पापी हूँ मै ! मुझे अपने इन पापी हाथो से एक महात्मा के शरीर की खाल उतारनी पड़ेगी !' वह नम्र भाव से मुनि से कहने लगा—आप महात्मा है। आपके हृदय मे मुझ जैसे पापात्मा के प्रति भी करुणा है। परन्तु इस समय मै निरुपाय

हूँ। मुझे अनिच्छा से और दुखित मन से भी आपके वध का पाप करना पड़ेगा।

वधस्थान पर ले जाकर चांडाल ने दुःखी हृदय से मुनि का वध किया और उनके शरीर की खाल उतार ली। परन्तु वह शान्त मूर्ति मुनिराज परमात्मा के ध्यान से तनिक भी विचलित नहीं हुए। शरीरनाश के समय उन्होंने अपनी आत्मा का परमात्मा के साथ ऐसा अनुसंधान किया कि परमात्मा का ध्यान करते हुए उन्हें मृत्यु का दुःख मालूम ही नहीं हुआ। मुनि के मन में किसी के प्रति न क्रोधभाव उत्पन्न हुआ और न वैरभाव ही उत्पन्न हुआ। उस समय खंधक मुनि क्षमा की साक्षात् मूर्ति बन गये। क्षमाशीलता का इससे ऊँचा आदर्श और क्या हो सकता है? क्षमाशील रहना तो साधु का धर्म है। समर्थ साधु ही ऐसा वधपरीषह सह सकते हैं। क्षमाशील साधु कैसे होते हैं, इस संबंध में शास्त्र में कहा है:—

हओ न संजले भिक्खू, मणं पि न पओसए।
तितिक्खं परमं नच्चा, भिक्खू धम्मं समायरे॥

अर्थात्—कोई प्राणों का हरण करे तो भी भिक्षु उस पर क्रोध न करे, यहाँ तक कि मन में भी द्वेष न लावे। बल्कि तितिक्षा (सहनशीलता-क्षमा) को उत्तम गुण समझकर क्षमाशील साधु क्षमाधर्म का ही पालन करे।

खंधकजी मुनि ने दस प्रकार के साधु धर्मों में प्रथम और प्रधान क्षमाधर्म को सर्वोत्कृष्ट समझकर प्राण अर्पण कर दिये और जगत् के समक्ष क्षमा का अनूठा आदर्श उपस्थित करने के साथ अपने जीवन को धन्य बना लिया। खंधकजी मुनि ने प्राण त्याग करते समय ऐसी उच्च भावना भाई थी कि:—

चाहत जीव सबै जग जीवन, देह समान नहीं कछु प्यारो ।
संयमवंत मुनीश्वर को, उपसर्ग हुए तन नाशन हारो ॥
तो चिंतवे हम आतमराम, अखंड अबाधित ज्ञान भंडारो ।
देह विनाशिक सो हम तो नहिं, शुद्ध चिदानन्द रूप हमारो ॥

खंधक मुनि ने इस प्रकार की उच्च भावना भाते हुए केवल-ज्ञान प्राप्त किया। जिस उद्देश्य के लिए उन्होंने संसार त्याग किया था, वह आत्मश्रेय-साधन का उद्देश्य सिद्ध करके मोक्ष प्राप्त किया। इस प्रकार खंधक मुनि सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए।

वह नौकर, जिसने मुनि का वध किया था, मुनि की खाल लेकर राजा के सामने उपस्थित हुआ। राजा ने मुनि की खाल उतार लाने की आज्ञा तो अवश्य दी थी, परन्तु जब मुनि के शरीर की खाल उसकी दृष्टि के सामने आई तो उसे देख कर वह एक बार काँप उठा। कहने लगा—हाय! मैंने यह कैसा कुकृत्य किया कि एक महात्मा के शरीर की खाल उतरवा ली! नौकर ने महात्मा की धीरता, वीरता और क्षमा की सब बात कही। नौकर की बातें सुनकर राजा पश्चात्ताप करने लगा। उसे इतना संताप हुआ कि आँखों से आंसुओं की धारा बहने लगी। जब रानी को विदित हुआ कि किसी मनुष्य की खाल उतरवाई गई है और रानी ने उसे आकर प्रत्यक्ष देखा तो वह भी रुदन करने लगी।

इसी बीच एक चील राजा के महल पर उड़ती-उड़ती आई। उसने रक्त से रंजित मुनि की मुखवस्त्रिका या दूसरा कोई वस्त्र उठा लिया था। मगर उस चीज में उसे कोई स्वाद नहीं आया। अतएव उसने वह वस्त्र राजा के महल पर ही छोड़ दिया और वह उड़

गई। खून से लथपथ वह वस्त्र रानी को नजर आ गया। रानी ने उसी समय वह वस्त्र मँगवा कर देखा तो जान पड़ा कि यह वस्त्र किसी मुनि का मालूम होता है। रानी, राजा के पास गई और कहने लगी—महाराज! आपके राज्य में किसी मुनि का घात हुआ है। यह वस्त्र उन्हीं मुनि का मालूम होता है। रानी ने यह भी कहा—उन मुनि ने ऐसा क्या अपराध किया था कि आपने उन्हें प्राणदण्ड दिया? रानी के प्रश्न के उत्तर में राजा ने अथ से इति तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया। राजा का कथन सुनकर रानी के दुःख का पार न रहा।

रानी ने कहा—मुनि को प्राणदण्ड देने से पहले जाँच तो कर लेते कि मैंने मुनि की ओर किसलिए देखा! आपने यह कुकृत्य करके घोर अनर्थ किया है। मुनि को देखकर मेरे मन में विचार आया कि मेरा भाई भी इन मुनि की तरह ही घर-घर भिक्षा के लिए भटकता होगा! आपने मेरी दृष्टि में विकार देखा, मगर वास्तव मे मेरी दृष्टि मे अथवा मुनि की दृष्टि में किसी प्रकार का विकार नहीं था।

राजा ने खोज कराई तो मालूम हुआ कि वह मुनि रानी के संसारावस्था के भाई ही थे। यह जानकर राजा को भी बहुत पश्चात्ताप हुआ।

रानी ने कहा—अब पश्चात्ताप करने से मुनि फिर जीवित होने के नहीं। अतएव पश्चात्ताप करना छोड़ो और इन मुनि के मार्ग का अनुसरण करो। इसी में अपना कल्याण है। आखिर राजा-रानी दोनों ने संयममार्ग ग्रहण कर के आत्मकल्याण किया।

•

कहने का आशय यह है कि मुनि के मन में जो क्षमा होती है, उसका प्रभाव दूसरे पर भी पड़ता है। राजा कितना कठोरहृदय था कि मुनि का किसी प्रकार का अपराध न होने पर भी उसने मुनि के शरीर की चमड़ी उधेड़ लेने की आज्ञा दे दी। परन्तु मुनि की अनुपम क्षमा का वृत्तान्त सुनकर उस कठोरहृदय राजा का हृदय भी परिवर्तित हो गया। इस प्रकार खंधक मुनि ने क्षमा का आदर्श उपस्थित करके स्व-पर-कल्याण साधन किया। इस प्रकार की क्षमा धारण करने वाले ही वास्तव मे महान् है। क्षमा इस लोक का भी बल है और परलोक का भी बल है। संसार मे उन्हीं पुरुषो का जीवन धन्य बन जाता है, जो स्वय क्षमाशील बन कर दूसरो को भी क्षमाशील बनाते है।

तुम क्षमाशील बनकर आत्मा का कल्याण साधो। इसी में तुम्हारा कल्याण है।



सैंतालीसवाँ बोल ।

अलोभवृत्ति

पिछले बोल में क्षमा के विषय में विचार किया गया है। निर्लोभ व्यक्ति ही क्षमा धारण कर सकता है। अतएव अब निर्लोभता अर्थात् मुत्ति (मुक्ति) के विषय में गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं:—

मूलपाठ

प्रश्न—मुत्तीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ । अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाणं अप्पत्थणिज्जो हवइ ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! मुक्ति अर्थात् निर्लोभता से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर निर्लोभता से जीव अकिंचन-अपरिग्रह बनता है और धनलोलुप पुरुषों का अप्रार्थनीय बनता है ।

व्याख्यान

गौतम स्वामी ने यह प्रश्न पूछ कर हम लोगो पर महान् उपकार किया है। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने जो कुछ कहा है, उस पर हमे शान्त चित्त से विचार करना चाहिए। भगवान् का कथन है कि क्षमा के विना निर्लोभता नही उत्पन्न होती और निर्लोभता के विना क्षमा नही आ सकती। यह दोनों गुण एक दूसरे के सहारे टिके हैं। अकेली क्षमा टिक नहीं सकती। क्षमा गुण को स्थिर रखने के लिए अन्य सद्गुणों की भी आवश्यकता होती है। जैसे मूल होने पर शाखा-प्रशाखाएँ होती है, उसी प्रकार क्षमा रूपी मूल के होने पर शाखा प्रशाखा के रूप मे अन्य गुण होते है। क्षमा गुण अगर मूल है तो निर्लोभता आदि गुणों को शाखा-प्रशाखा के रूप मे समझना चाहिए।

जिस व्यक्ति मे लोभ होता है अथवा जिस व्यक्ति को किसी वस्तु के प्रति ममत्व होता है, उसकी प्रिय वस्तु की अगर कोई हानि करता है तो हानि करने वाले पर उसे क्रोध आना स्वाभाविक है। किन्तु जो व्यक्ति निर्लोभ होता है, जो यह मानता है कि सब वस्तुएँ मेरे आत्मा के संयोग से ही हैं और एक न एक दिन वह सब नष्ट होने वाली ही है, मेरा शाश्वत संबंध किसी भी सांसारिक वस्तु के साथ नहीं है, ऐसे व्यक्ति को किसी पर क्रोध आने का कोई कारण ही नहीं। जिस व्यक्ति के लिए किसी पर क्रोध करने का कारण ही नहीं होता, वही व्यक्ति क्षमा रख सकता है। इस प्रकार निर्लोभता के कारण ही क्षमाभाव टिक सकता है। अतएव लोभ को जीत कर क्षमाशील बनने का प्रयत्न करो।

निर्लोभता से जीव को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते है—जिसमें लोभ नहीं होता—जो निर्लोभ

होता है; वह अकिंचन अर्थात् निर्धन बन जाता है और इस कारण निर्लोभ व्यक्ति अर्थलोलुप लोगों के लिए अप्रार्थनीय बनता है।

इस प्रश्न का उत्तर सुनकर कोई कह सकता है कि निर्लोभता का यह तो उलटा फल निकला! संसार-व्यवहार में तो यह देखा जाता है कि धन होने से ही धर्म होता है, और धनवान् को ही धर्मात्मा माना जाता है। परन्तु भगवान् कहते हैं कि निर्लोभता से निर्धनता आती है। इस प्रकार के कथन के संबंध मे शास्त्रकार कहते हैं कि अगर तुम भगवान् के कथन पर गहरा विचार करोगे तो भगवद्-वाणी का रहस्य तुम्हारी समझ में आयगा और तुम्हें अपनी भूल मालूम हुए बिना नहीं रहेगी। यह तो तुम भलीभाँति जानते हो कि पदार्थों के प्रति चाहे जितनी ममता क्यों न रक्खो, आखिर वे पदार्थ नष्ट हो जाएँगे और तब ममता त्यागनी ही पड़ेगी। ऐसी स्थिति में जो पदार्थ नष्ट हो जाने वाले हैं, उन्हें अपनी ओर से त्याग देना ही निर्लोभता है। अब तुम स्वयं ही विचार करो कि जो वस्तु अन्त में छूटने ही वाली है और नष्ट-भ्रष्ट होने वाली है, उस नश्वर वस्तु के प्रति ममत्व रखने से लाभ है या उसका स्वेच्छा से त्याग करने में लाभ है? तुम स्वयं कहोगे कि नश्वर वस्तु के प्रति ममत्व न रखने तथा निर्लोभता धारण करने में ही लाभ है।

कोई कह सकता है कि निर्धन हो जाना या दरिद्रता प्राप्त होना निर्लोभता का सुन्दर परिणाम नहीं कहा जा सकता। दरिद्रता के कारण तो पूरे अन्न-वस्त्र भी प्राप्त नहीं होते। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि निर्लोभता अच्छी वस्तु है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं—जिसमें निर्लोभता होती है उसे अर्थलोलुप लोग छोड़ देते हैं। निर्लोभ व्यक्ति अर्थलोभी लोगों का अप्रार्थनीय बन जाता है। धन के लोभी भली-भाँति जानते हैं कि

जिनके पास कुछ भी नहीं है अथवा जो निर्लोभ हैं, उनसे कुछ मिलने की आशा नहीं ! अतएव वे निर्लोभ व्यक्ति का पिंड छोड़ देते हैं।

संसार में प्रायः धनिकों को ही सताया जाता है। राजा इक्षुकार की पत्नी कमलावती ने अपने पति से कहा था:—

सामिसं कुललं दिस्स बज्झमाणं निरामिसं ।
आमिसं सव्वं मुज्झित्ता विहरिस्सामि निरामिसा ॥

—श्री उ० १४ अ० ४६ गा०

अर्थात्—जब किसी पक्षी के पास मांस होता है तब दूसरे पक्षी, जिनके पास मांस नहीं होता, वे उस पर टूट पड़ते हैं। मांस के कारण ही उस पक्षी पर दूसरे पक्षी टूट पड़ते हैं। अगर मांस वाला पक्षी मांस का त्याग कर दे तो दूसरे पक्षी उसे सताएँगे नहीं।

इसी प्रकार जो पुरुष स्वयं धन-सम्पदा का त्याग कर देता है, उसे राजा-चोर आदि अर्थलोलुप लोग नहीं सताते। जब लुटेरा किसी मनुष्य को लूटता है या मारता है तो यह कहा जाता है कि लुटेरा या चोर लोगों को दुःख देता है। मगर इस बात का विचार करो कि वास्तव में दुःख कौन देता है। चोर या लुटेरा दुःख देता है अथवा धन की ममता दुःख देती है ? धन की ममता के कारण ही दुःखों का उद्भव होता है। धन की ममता का त्याग कर देने पर दुःख की उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है।

कहने का आशय यह है कि जो लोग निर्लोभता-अकिंचनता को स्वीकार करते हैं, उन्हे अर्थलोभी लोग भी छोड़ देते हैं।

निर्लोभ मनुष्य ही आखिर देवों और मनुष्यों द्वारा पूजनीय बनता है। वही सुख और शान्ति प्राप्त करता है। इससे विपरीत, जिन्होंने धन का लोभ नहीं त्यागा, वे इस लोक में भी हाय-हाय करते हैं और परलोक में भी दुःख पाते हैं।

शास्त्र में यह बात यद्यपि साधुओं को लक्ष्य करके कही गई है, पर गृहस्थों को भी इस बात पर विचार करना चाहिए कि धन के लोभ से कितना दुःख होता है! यह तो सभी जानते हैं कि लोभ से धन की प्राप्ति नहीं होती। ऐसी स्थिति में धन की आवश्यकता होने पर भी लोभ करने से क्या लाभ है? लोभ का कहीं अन्त नहीं और जहाँ लोभ है वहाँ पाप का पोषण होता है। गहरा विचार करने से तुम्हें भी विदित हुए बिना नहीं रहेगा कि दुःख का मूल कारण धन है। कुछ लोग धनिकों को सुखी मानते है, पर धनिको से पूछो कि वे सुखी हैं या दुखी? वास्तव मे धनवानों को सुखी समझना भ्रम मात्र है। प्रायः देखा जाता है कि जिनके पास धन है, वही लोग अधिक हाय हाय करते हैं! जहाँ जितना ज्यादा ममत्व है वहाँ उतना ही ज्यादा दुःख है।

कहा जा सकता है कि हम तो धनिको को आनन्द मानते हुए देखते हैं, परन्तु इस सम्बन्ध में ज्ञानी जनों का कथन है कि धन वास्तव में सुख का कारण नहीं है। सुखी असल में वही है, जिसने ममता पर विजय प्राप्त करली है। जो लोग ममत्व में फँसे हैं वे दिन-रात हाय-हाय करते रहते हैं। इसी कारण शास्त्रकार सांसारिक पदार्थों के प्रति ममता का भाव न रखने का उपदेश देते हुए कहते हैं कि सांसारिक पदार्थों का जितने अंश से त्याग किया जायगा उतने ही अंशो में अधिक आनन्द प्राप्त होगा। वस्तुएँ तो आखिर नष्ट होने वाली हैं ही, फिर इन नाशशील वस्तुओं पर ममत्व रखकर क्यों

दुखी होना चाहिए? विनश्वर वस्तुओं का स्वेच्छापूर्वक त्याग कर दिया जाय तो दुःख से बचाव हो जायगा और आत्मसुख भी प्राप्त हो सकेगा। ज्ञानी जन अपना अनुभव प्रकट करते हुए कहते हैं कि सांसारिक पदार्थ अन्त में एक न एक दिन अवश्य ही नष्ट होने वाले हैं, अतएव इन नश्वर पदार्थों का अगर वैराग्यपूर्वक त्याग कर दिया जाय तो अपूर्व आनन्द प्राप्त हो सकेगा।

कोई प्रश्न कर सकता है कि कितनेक लोगों के पास सोना, चांदी आदि धन होने पर भी वे त्यागी जैसे मालूम होते हैं और कुछ लोग धन न होने पर भी त्यागी सरीखे मालूम नहीं होते। इसका क्या कारण है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अमुक ने वस्तु सम्बन्धी ममत्व का त्याग किया है या नहीं, यह निश्चय की बात है। इसे हम लोग जान नहीं सकते। परन्तु जिस व्यक्ति में जिस वस्तु के प्रति ममत्वभाव न होगा वह व्यक्ति अपने पास वह वस्तु रक्खेगा ही क्यों? मुख्य बात तो यह है कि जिसने अन्तःकरण से ममता का त्याग कर दिया होगा वह दुःखरहित बन जाएगा। जिसने ऊपर से केवल बाह्य दृष्टि से त्यागी होने का दिखावा किया होगा, भीतर से ममताभाव का त्याग नहीं किया होगा, वह बाहर से भले ही त्यागी जैसा दिखलाई दे, मगर वह दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। जहाँ ममत्व है वहाँ दुःख होता ही है। अतएव सांसारिक पदार्थों से जितना दूर रहा जाय, उतना ही अच्छा है। सांसारिक पदार्थों के प्रति निस्पृह रहने से सांसारिक पदार्थ अधिकाधिक समीप आते हैं। और उन पर ममत्व रखने से वे दूर भागते हैं। सूर्य की तरफ पीठ करके छाया को पकड़ने के लिए दौड़ने से छाया आगे आगे भागती जाता है। इसी प्रकार ममता के कारण सांसारिक पदार्थ दूर से दूर-

तर होते जाते हैं। अगर सूर्य की ओर मुख और छाया की तरफ पीठ की जाय तो छाया पीछे-पीछे चली आती है। इसी प्रकार सांसारिक पदार्थों के प्रति निस्पृहता धारण की जाय और उदारतापूर्वक उनका त्याग करने की भावना रक्खी जाय तो सांसारिक पदार्थ तुम्हारे पीछे-पीछे दौड़ेंगे। अतएव सांसारिक पदार्थों के प्रति ममताभाव नहीं रखना चाहिए।

संसार में जनसमाज का कल्याण वही व्यक्ति कर सकता है, जिसने ममता का त्याग कर दिया हो। अर्थलोभी व्यक्ति प्रायः संसार का अहित करने में प्रवृत्त रहता है। कोई कह सकता है कि आप धन का त्याग करने के लिए कहते है, परन्तु आज तो यह माना जाता है किः—

भज कल्दारं, भज कल्दारं, कल्दारं भज मूढमते !

अर्थात्—हे मूढ ! तू धन की पूजा कर। ऐसी स्थिति मे क्या करना चाहिए?

इस कथन का उत्तर यह है कि अर्थलोभी ही ऐसा कहते हैं। ऐसे लोगों से पूछना चाहिए कि धन मे सुख ही है या दुःख भी है? इस प्रश्न के उत्तर में अर्थलोभी भी स्वीकार किये विना नहीं रह सकते कि धन में दुःख भी है। वास्तव में धन को परमात्मा के समान मानने वाले अर्थलोलुप लोगों की बदौलत ही यह संसार दुखी बना हुआ है। और जिन्होंने धन को धूल के समान मानकर उसका त्याग कर दिया है, उन निर्लोभ पुरुषों की ही बदौलत संसार सुखी हो सका है अथवा हो सकता है।

जो अर्थलोभी नहीं है, जो धन को धूल समझते हैं, उन्हे कहीं भी किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। आज धन लोभी

लोगों को ही चोर आदि का सब से ज्यादा भय लगता है। धन के त्यागी, धन को धूल समझने वाले मुनि को जगल में भी किसी का भय नहीं लगता। दर असल धन में आनद नहीं है, धन का त्याग करने में आनन्द है। यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध है। धन का त्यागी स्वयं सुखी रहता है और दूसरों को भी सुखी बनाता है।

अगर तुम सांसारिक पदार्थों की वास्तविकता पर विचार करोगे तो जान पड़ेगा कि लोभ का कहीं अन्त ही नहीं है! ज्यों-ज्यों धन बढ़ता जाता है त्यों-त्यों लोभ भी बढता चला जाता है। और जैसे-जैसे धन-लोभ बढ़ता जाता है वैसे वैसे पाप का पोषण भी होता जाता है। अतएव ससार की प्रत्येक वस्तु का स्वेच्छा से ही त्याग करना उचित है। लोभ को जीतकर निर्लोभ बनने के लिए शास्त्र में अनेक उपाय बतलाये गए हैं। श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कपिल मुनि का दृष्टान्त देकर बतलाया है कि वस्तु की प्राप्ति होने से किस प्रकार लोभ की वृद्धि होती जाती है! और परिणाम-स्वरूप जीवन में कितनी अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। लोभ, दुःख और अशान्ति का कारण है। निर्लोभता से सुख और शान्ति प्राप्त होती है। अतएव लोभ का त्याग करके निर्लोभ बनने मे ही कल्याण है।

कपिल ब्राह्मण को सिर्फ दो माशा सोने की ही आवश्यकता थी। राजा ने इच्छानुसार—जो चाहिए सो—माँगने की अनुमति दी। कपिल ब्राह्मण ने बगीचा में जाकर खूब विचार किया कि क्या माँगना चाहिए? किन्तु विचारते-विचारते वह इसी निर्णय पर आये कि लोभ का कहीं अन्त नहीं है। ज्यों-ज्यों अधिक मांगने की इच्छा करता हूँ, लोभ बढ़ता ही जाता है। वास्तव मे जहाँ लाभ है वहाँ लोभ है। तृष्णा सर्वविनाशिनी है। अगर मै तृष्णा

का त्याग कर दूं तो निर्भय बन जाऊँ! इस प्रकार गहरा विचार करने के बाद कपिल ब्राह्मण इसी नतीजे पर पहुँचे कि लोभ ही सर्वविनाशक है। अतएव लोभ का त्याग कर देना ही श्रेयस्कर है। ऐसा विचार कर कपिल ब्राह्मण ने लोभ का त्याग कर दिया। और लोभ का पूर्ण रूप से त्याग करने के लिए संसार का त्याग करके मुनिपद स्वीकार किया और आत्मकल्याण किया।

भगवान् ने कहा है—लोभ पर विजय प्राप्त करने से आत्म-कल्याण होता है। अतः आत्महितैषी लोगों को लोभ पर विजय पाकर–निर्लोभ बनकर आत्मकल्याण करना चाहिए।

जीवन मे निर्लोभवृत्ति आ जाएगी तो धन आदि के लिए अर्थलोलुप लोगों से प्रार्थना भी नहीं करनी पड़ेगी। जहाँ निर्लोभता है वहाँ निर्भयता है। अतएव भयरहित बनने के लिए जीवन में निर्लोभता को त्याग दो। लोभ को जीतो। इसी में स्व-पर का कल्याण है।

अड़तालीसवाँ बोल

ऋजुता

सिद्धान्त-सागर में अनेक अनमोल मोती भरे हैं। सच्चा जानकार जौहरी ही मोती की परख कर सकता है और ठीक कीमत आंक सकता है। मोतियों की माला पहन कर लोग फूले नही समाते, परन्तु नश्वर मोतियो की माला से जीवन का वास्तविक कल्याण नहीं हो सकता। वीर वाणी रूपी अनमोल मोतियो की माला अपने गले में धारण करने वाले ही अपने जीवन को कल्याणमय वना सकते है साथ ही पर का भी कल्याण कर-सकते है। वास्तव मे वीर-वाणी संसार-सागर से पार उतारने वाली है और इसी कारण वीरवाणी को जगदुद्धारिणी कहते हैं।

श्रीउत्तराध्ययनसूत्र महावीर की अन्तिम वाणी है। इस अन्तिम वाणी में श्रमणनायक महावीर भगवान् के आत्मानुभव का निचोड़ संगृहीत है। उत्तराध्ययन के २६ वें अध्ययन में, महावीर भगवान् और गौतम गणधर के बीच हुए प्रश्नोत्तर का संक्षिप्त, सारगर्भित तथा सुन्दर सूत्र के रूप मे निरूपण किया गया है। इस अध्ययन मे आत्मिक गुणो का विकास करने वाले ७३ सोपान वनाए गए हैं। इन ७३ बोलो मे से सैंतालीस बोलों का विस्तृत विवेचन

किया जा चुका है। सैंतालीसवें बोल में मुक्ति अर्थात् निर्लोभता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है और उससे जीवात्मा को क्या क्या लाभ होता है, इस विषय पर विचार किया गया था।

आर्जव क्या है ? आर्जव गुण धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस सम्बन्ध मे गौतम स्वामी. भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं:—

मूलपाठ

प्रश्न—अज्जवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—अज्जवयाए काउज्जुययं भावुज्जुययं भासुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ, अविसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न-भगवन् ! आर्जव-ऋजुता-निष्कपटता से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर-ऋजुता से जीवात्मा काय की सरलता, भाव की सरलता, भाषा की सरलता तथा तीनों योगो की सरलता प्राप्त करता है। आत्मा जब मन, वचन, काय से सरल बनता है तब धर्म का आराधक बनता है।

व्याख्यान

इस बोल पर विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि जीवन में आर्जव-सरलता कब प्रकट होती है ? जीवन में आर्जव गुण प्रकट करने के लिए भगवान् ने पहले

ही कह दिया है कि जो व्यक्ति अक्रोधी होता है, वही क्षमागुण को धारण कर सकता है, जो क्षमाशील होता है वही निर्लोभ हो सकता है और जो निर्लोभ होता है वही निष्कपट बन सकता है। इस प्रकार जहाँ कपटभाव नहीं होता वहीं आर्जव गुण प्रकट होता है। जिसमें लोभ आदि होते हैं वह सरलता नहीं रख सकता और जहाँ लोभ है वहाँ कपट होता ही है।

लोभ और कपट में अविनाभाव संबंध है। जहाँ तीव्र लोभ है वहाँ माया भी है और जहाँ माया है वहाँ लोभ अवश्य होता है। जो लोभ को जीत लेता है वह कपट को भी जीत लेता है और जो कपट को जीत लेता है वह लोभ को भी जीत लेता है। इस प्रकार निर्लोभता और निष्कपटता के बीच पारस्परिक संबंध है और इसी कारण गौतम-स्वामी ने निर्लोभता के प्रश्नोत्तर के बाद निष्कपटता के विषय में भगवान् से प्रश्न किया है।

दुनियादारी में आम तौर पर यह कहा जाता है कि जो सरल होता है वह व्यवहार में कच्चा होता है, अतएव मनुष्य में थोड़ी-बहुत वक्रता अवश्य होनी चाहिए। इस प्रकार संसार में वक्रता रखने की आवश्यकता अनुभव की जाती है। परन्तु शास्त्रकार इससे विरुद्ध यह कहते हैं कि लोभ या वक्रता रखने से आत्मा का तनिक भी लाभ नहीं होता है। निर्लोभता और सरलता से ही आत्मा का वास्तविक लाभ होता है। भगवान् ने कहा है—हे गौतम ! जिस व्यक्ति के हृदय में सरलता होती है, कपट नहीं होता, उस व्यक्ति की काया में सरलता आती है, भावों में सरलता आती है और भाषा में भी सरलता आ जाती है। इसके विपरीत हृदय में जब कपट भाव होता है तो काया में भी कुटिलता आ जाती है, भावों में भी वक्रता आ जाती है और भाषा में भी कपटीपन आ जाता है।

हृदय में कपट का भाव आने से शरीर में किस प्रकार वक्रता आ जाती है; यह बात नाटक के उदाहरण से स्पष्ट समझ में आ सकती है। नाटक में अनेक प्रकार के जो पात्र होते हैं, वे वास्तव मे कैसे होते हैं और नाटक में शरीर का रूप कैसा बना लेते हैं? उनके हृदय में तो मलीनता होती है मगर ऊपर से सरलता प्रकट करते हैं। 'हाथी के दांत दिखाने के और तथा खाने के और' इस लोकोक्ति के अनुसार उनके हृदय का व्यवहार तथा काया का व्यवहार जुदा-जुदा होता है।

राम या हरिश्चन्द्र का नाटक खेला जाता है। राम या हरिश्चन्द्र का अभिनय करने वाले में उन जैसा त्यागभाव नहीं होता, फिर भी कपट-पूर्वक राम या हरिश्चन्द्र का वेष धारण करके अभिनेता खेल दिखलाता है। इसमें कपट नहीं तो क्या है?

कहने का आशय यह है कि हृदय में कपटभाव रखने से काया में भी वक्रता आ ही जाती है। और जब हृदय में सरलता आती है तो काय मे भी सरलता आ जाती है। इसके अतिरिक्त काय की वक्रता और सरलता से हृदय की वक्रता और सरलता जानी जा सकती है। अगर भावों में कपट हो तो काय में वक्रता आए बिना नहीं रहेगी। अर्थात् भाव में कपट होगा तो काय में वक्रता आएगी और काय में वक्रता होगी तो भावों में भी वक्रता होगी। इसी प्रकार भाव में सरलता होगी तो काय में भी सरलता होगी और काय में सरलता होगी तो भावों में भी सरलता होगी। और जिनके भावों में तथा काय में सरलता या वक्रता होगी, उनकी भाषा में भी वैसी ही सरलता या वक्रता आए बिना नहीं रहेगी।

भाव में, भाषा में और काया में वक्रता किस प्रकार आती है, इसका वर्णन शास्त्र में भिन्न भिन्न प्रकार से किया गया है। यद्यपि

प्रधानता तो भाव की ही रहती है तथापि भाव के साथ भाषा और काया का भी संबंध है। भाव की प्रधानता देहली पर रक्खे दीपक के समान है। देहली पर दीपक रखने से बाहर भी प्रकाश पड़ता है और भीतर भी प्रकाश पड़ता है, उसी प्रकार भाव में सरलता या वक्रता रखने से भाषा और काया में भी सरलता तथा वक्रता आती है।

ऋजुता अर्थात् सरलता से भाव में, भाषा में तथा काया में सरलता आती है। और जब इन तीनों में सरलता आती है तब, भगवान् के कथनानुसार आत्मा में अविसंवाद प्रकट होता है। आत्मा में अविसंवाद प्रकट होने से आगामी काल में धर्म की आराधना की जा सकती है। वास्तव में धर्म की आराधना अविसंवाद से ही होती है।

जो रोगी होता है और जो रोग दूर करना चाहता है वही औषध का सेवन करता है। जो अपना रोग शान्त ही नहीं करना चाहता वह किसलिए औषध सेवन करेगा? इसी प्रकार अगर तुम अपनी वक्रता दूर करना चाहते हो तो भगवान् के इस सदुपदेश को हृदय में उतारो और अमल में लाने का प्रयत्न करो। अगर तुम अपनी वक्रता दूर ही नहीं करना चाहते तो इस दशा में उपदेश सुनने से क्या लाभ हो सकता है? बालक के हृदय जैसी सरलता जब तुम्हारे हृदय में आ जाए तो समझना कि तुमने भगवान् के धर्म को समझा है। जैसे बालक कपटरहित होकर माता-पिता के सामने सब बात खोलकर कह देता है, उसी प्रकार जो पुरुष अपना समस्त व्यवहार निष्कपट होकर करता है, वही वास्तव में धर्म की आराधना कर सकता है। सच्ची सरलता प्रकट हुए बिना धर्म की यथावत् आराधना नहीं हो सकती।

तुम लोग माया को जीतकर सरलता प्राप्त करने के लिए हमारे पास आते हो। अतएव हमें भी विचारना चाहिए कि हम दूसरों का रोग—दूसरों की माया—तभी दूर कर सकते है, जब हम स्वयं नीरोग हो अर्थात् मायारहित हों। अगर हम स्वयं रोगी अर्थात् वक्र हुए तो दूसरों का रोग किस प्रकार मिटा सकेंगे? वास्तव में सरलता धारण किये विना आत्मा का कल्याण भी नहीं हो सकता। अपने बुद्धिबल से या कपट से कोई दूसरों को पराजित भले ही कर सके, मगर उससे आत्मा का कल्याण नहीं साधा जा सकता। आत्मा का कल्याण तो सरलता से ही हो सकता है।

हृदय में कपटभाव रखने वाला धर्म का आराधन नहीं कर सकता। धर्म की आराधना तो सरल आत्मा से ही होती है। वही अपना कल्याण कर सकता है। व्यवहार में भी सरलता की आवश्यकता रहती है। स्वामी भी सरल सेवक पर प्रसन्न रहता है। जो सेवक कपटी होता है उसके प्रति स्वामी प्रेम प्रदर्शित नहीं करता। जब व्यवहार में भी यह बात देखी जाती है तो फिर खटपट में पड़ा हुआ अर्थात् वक्र मनुष्य परमात्मा का प्यारा कैसे बन सकता है? ठग लोग समझते हैं कि हम परमात्मा की आँखों में धूल झौंक कर उसे भी ठग लेंगे, परन्तु आध्यात्मिकता के आगे ठगविद्या काम नहीं आती। ठगविद्या से परमात्मा को ठग लेने की मान्यता ही भ्रामक तथा आत्मविघातक है। अतएव परमात्मा की आराधना करने के लिए भाव, भाषा तथा काया की सरलता रखनी चाहिए।

कितनेक लोग वक्रतापूर्ण काम करके भी कहते हैं कि हमारा हृदय तो सरल ही है। हम काया द्वारा चाहे जैसे खराब काम करें परन्तु हमारे भावों में किसी प्रकार की वक्रता नहीं है। किन्तु यह कथन भी भ्रामक और मिथ्या है। शास्त्रकार तो स्पष्ट

कहते हैं-जिसके भाव में सरलता होगी उसकी भाषा में भी सरलता होगी और काया मे भी सरलता होगी। इसके विपरीत, जिसके कार्यों में और जिसकी भाषा में वक्रता होगी, उसके भावों में सरलता नहीं हो सकती। जो वृक्ष ऊपर से हरा भरा दिखाई देता है, उसकी जड़ भी मजबूत और हरीभरी है, ऐसा कहा जाता है, परन्तु जो वृक्ष ऊपर से सूखा हुआ नजर आता है, उसकी जड हरी है, यह कैसे कहा जा सकता है? इसी प्रकार जब काया और भाषा मे वक्रता होती है, तब कैसे कहा जा सकता है कि भाव में सरलता है? जब काय मे वक्रता होती है तो भाव में भी वक्रता होती है, यह बात एक ऐतिहासिक उदाहरण देकर समझाता हूँ:—

बादशाह अकबर का प्रधान हिन्दू था। यह हिन्दू प्रधान मुसलमानों को शल्य की भाँति चुभता था। उनकी मान्यता थी कि मुसलमान राज्य मे हिन्दू प्रधान कदापि नहीं होना चाहिए। अतएव वे हिन्दू प्रधान के बदले किसी मुसलमान को प्रधान बनाने का प्रयत्न करते थे। जब उनका कोई प्रयत्न सफल न हुआ तो उन्होंने बेगम को भरमा कर अपनी मनोकामना पूरी करनी चाही। कुछ मुसलमान बेगम के पास पहुँचे और बोले—'आपका भाई शेख हुसेन हर तरह से काबिल है, फिर भी उसे दीवान न बनाकर एक हिन्दू काफिर को सल्तनत का दीवान बनाया गया है! क्या यह ठीक कहा जा सकता है?

बेगम मुसलमानों के भ्रम जाल में फँस गई। जब बादशाह महल मे गए तो बेगम ने तिरिया-चरित्र द्वारा उन्हे वचन मे बाँध लिया। बादशाह ने बेगम से कहा—तुम चाहती क्या हो? जो चाहती हो, बताओ! मैं वही देने को तैयार हूँ।' बेगम बोली—तुम मेरे भाई की कई बार तारीफ किया करते हो। अगर दरअसल वह होशियार

है तो उसे दीवान न बना कर एक हिन्दू काफिर को क्यो दीवान बनाया है ? बादशाह बेगम का मतलब समझ गया। उसने मन ही मन विचार किया—बेगम को इस बात का यकीन करा देना चाहिए कि दरअसल उसका भाई कितना काबिल है ! इस प्रकार विचार कर बादशाह ने कहा—तुम्हारा कहना सही है। मुझ से भूल हुई कि अपने ही घर मे शेख हुसेन जैसे काबिल शख्स के होते हुए भी मैंने एक हिन्दू को सल्तनत का वज़ीर बना दिया ! मै कल शेख हुसेन को बड़ा वजीर बना देने का इन्तजाम करूँगा।

जब बादशाह राजमहल मे से चले गये तो वे धूर्त मुसलमान फिर बेगम के पास आए। पूछने लगे—'क्या हुआ ?' बेगम ने उत्तर दिया—'सब काम हो गया है। कल मेरा भाई शेख हुसेन प्रधान बना दिया जायगा।' यह सुन कर वे मुसलमान प्रसन्न हुए और कहने लगे—चलो, हिन्दू प्रधान का एक काँटा तो दूर हुआ !

दूसरे दिन बादशाह ने प्रधान से कहा—'तुमने बहुत दिनो तक प्रधान पद भोगा है। अब थोड़े दिनो के लिए शेख हुसेन को यह पद दे दो।

हिन्दू वज़ीर ने कहा—'जैसी जहाँपनाह की मर्जी।'

बादशाह ने प्रधान पद शेख हुसेन को सौंपा और हिन्दू प्रधान को पृथक् कर दिया। बादशाह के इस कार्य से मुसलमान बहुत प्रसन्न हुए। मगर उन्हे पता नहीं था कि शेख हुसेन इस कार्य के लिए योग्य है या नही ? बादशाह को भलीभाँति मालूम था कि शेख हुसेन इस पद को सुशोभित नहीं कर सकता। उन्होंने सोचा-शेख हुसेन को मैंने प्रधान पद सौंप तो दिया है परन्तु वह किसी दिन राज्य को भयंकर हानि पहुँचाएगा। अतएव ऐसा कोई उपाय

करना ठीक होगा कि वह स्वयं ही प्रधान पद छोड़ कर भाग जाय। इस प्रकार विचार कर बादशाह ने शेख से कहा—रोम के बादशाह से कुछ काम है। तुम वहाँ जाओ और काम को इस प्रकार कर आओ जिससे मेरी प्रतिष्ठा बढ़े। शेख हुसेन ने बादशाह की आज्ञा शिरोधार्य की और रोम जाने की तैयारी शुरु कर दी।

शेख हुसेन रोम गया। उसने वहाँ ऐसा व्यवहार किया कि उसका अपमान हुआ। अपमानित होकर वह वापिस लौटा। वह अपने मन मे कहने लगा—मै इस झंझट में कहाँ से पड़ गया। पहले मै मौज मे था। प्रधान बन कर मुसीबत गले लगा ली। इस प्रकार सोचता-विचारता वह बादशाह के सामने आया। बादशाह ने पूछा—रोम सकुशल जा आए? शेख हुसेन ने उत्तर मे कहा—आपने मुझे खूब झंझट में डाल दिया। वहाँ मेरा अपमान हुआ और जिस काम के लिए आपने भेजा था वह भी न हुआ। मुझसे यह वजारत न होगी। मेहरबानी करके यह पद वापिस ले लीजिए। बादशाह ने जबाब दिया—यह सब बात तुम अपनी बहिन से कहो।

बादशाह चाहते थे कि बेगम इन सब बातों से परिचित हो जाय और फिर कभी ऐसा प्रपंच न करे। इसी कारण बादशाह ने सब बातें बेगम से कहने के लिए कहा। शेख हुसेन अपनी बहिन के पास गया और कहने लगा—'बहिन! प्रधान पद की यह मुसीबत तुमने क्यो मेरे सिर मढ़ी! पहले मै मजे से रहता था, अब चिन्ता ही चिन्ता में दिन बीतता है।,

बेगम—तुम प्रधान बनाए गए तो बुरा क्या हुआ? प्रधान का हुकम तो बादशाह से भी ऊँचा समझा जाता है।

शेख—बहिन! तुम्हारा कहना सही है। प्रधान का पद बड़ा है, यह ठीक है, मगर उसे टिकाए रखने के लिए मुझमें काबलियत

भी तो होनी चाहिए। मुझमें यह काबलियत नहीं है। इसलिए किसी तरह कोशिश करके मुझे इस मुसीबत से बचाओ।

बेगम—फलां मुल्लाजी और फलां मुसलमानों ने तुम्हे वजीर बनाने के लिए मुझ से कहा था, बल्कि जोर दिया था। उन्होंने ही मुझे ऐसा करने के लिए भड़काया था। लिहाजा उन्हे बुलवा कर पूछ लेती हूँ।

जिन मुल्लाओं और मुसलमानों ने बेगम को भरमाया था, उन सब को बेगम ने अपने सामने बुलवा कर पूछा—तुम लोग मेरे भाई को वजीर बनाने के लिए कहते थे। उसे वजीर बना भी दिया गया है। लेकिन वह वज़ीर बने रहने के लिए तैयार नहीं है। अब क्या करना चाहिए?

उन्होने कहा—हमारी ख्वाहिश तो यही थी कि मुसलमान सल्तनत का वज़ीर भी मुसलमान ही होना चाहिए। इसी वजह से हमने आपके भाई का नाम पेश किया था। अब अगर वह वजीर होना या रहना नहीं चाहते तो जाने दीजिए।

आखिर बादशाह ने फिर हिन्दू प्रधान को प्रधान के पद पर नियुक्त किया। बादशाह ने हिन्दू प्रधान से कहा—शेख हुसेन जो काम बिगाड़ आया है उसे तुम सुधार आओ। बादशाह की आज्ञा शिरोधार्य करके हिन्दू प्रधान दलबल के साथ रोम गया। रोम के बादशाह को मालुम हुआ कि भारत का प्रधान आया है। रोम के बादशाह ने कहा—भारत के प्रधान का व्यक्तित्व ही क्या है! एक प्रधान तो पहले आया था। अब यह दूसरा आया है। मिलना तो चाहिए ही।

रोम के बादशाह ने भारत के प्रधान की परीक्षा करने के लिए एक युक्ति रची। उसने अपने ग्यारह गुलामों को भी अपनी

ही जैसी पोशाक पहना दी। बारहों आदमी एक समान बैठ गये, जिससे पता न लग सके कि वास्तव में बादशाह कौन है। भारतीय प्रधान रौबदार पोशाक पहन कर रोम की राजसभा में गया। राज-सभा में पहुँचकर प्रधान ने एक ही नजर मे असली बादशाह को पहचान लिया और उसी को सलामी दी। बादशाह ने पूछा कि तुम मुझे बादशाह समझते हो तो ये दूसरे लोग कौन है? भारत के प्रधान ने उत्तर में कहा—हमारे यहाँ भारत में होली के अवसर पर ऐसे अनेक बादशाह बनाये जाते हैं। यह लोग भी ऐसे ही बादशाह है। बादशाह ने फिर पूछा—यह बात तुमने कैसे जानी कि ये लोग असली बादशाह नहीं हैं और मै ही असली बादशाह हूँ। भारत प्रधान ने कहा–जिस समय मै राजसभा में दाखिल हुआ, उस समय यह मेरी पोशाक की ओर वक्र दृष्टि से देखने लगे। अकेले आप ही गम्भीर होकर बैठे रहे। आपकी गम्भीरता देखकर मैं जान सका कि वास्तव मे आप ही बादशाह है। यह सुनकर बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ। प्रधान के साथ उसने हाथ मिलाया और उसकी पीठ ठोक कर योग्यता का प्रमाण पत्र दिया। रोम के बादशाह ने भारतीय प्रधान से शेखहुसेन के आने का जिक्र करते हुए कहा–तुम से पहले जो प्रधान आया था, वह तो बिलकुल अयोग्य था। भारतीय प्रधान ने रोम के बादशाह के मुख से शेखहुसेन की निन्दा सुन कर कहा—जहाँपनाह! शेखहुसेन को तो आपकी परीक्षा करने भेजा था। वास्तव में वह अयोग्य नहीं था। इस प्रकार भारतीय प्रधान ने अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के साथ शेखहुसेन की अप्रतिष्ठा भी दूर की।

प्रधान रोम से लौटकर बादशाह अकबर के समक्ष आया। उसने रोम का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। बादशाह सारी बातें

सकता है ? और अजितनाथ भगवान् आत्मा को कैसे तार सकते है ? मानव-जीवन हमें मुक्ति प्राप्त करने के साधन के रूप में प्राप्त हुआ है अगर इस दशा में भी हम आत्मा का कल्याण नहीं करेंगे तो फिर कब करेंगे ? अनन्त भावों के बाद अपने को ऐसी सामग्री मिली है जिसे पाकर हम परमात्मा के समीप पहुँच सकते है। हमे यह मानव-शरीर इसीलिए मिला है कि हम आत्मा और परमात्मा के बीच का अन्तर दूर कर सकें। बुद्धिमत्ता इसी मे है कि जो वस्तु जिस कार्य के लिए उपयुक्त हो उसका उसी मे उपयोग किया जाय। जिस कार्य का जो कारण होता है, उस कारण मे वही कार्य सिद्ध हो सकता है अन्य नही। उससे अन्य कार्य सिद्ध करने का प्रयत्न करना उस कारण का दुरुपयोग करना है। घडा बनाने के लिए मिट्टी ही लेनी पड़ती है और कपडा बनाने के लिए सूत काम में लाना पड़ता है। ऐसा न किया जाय और कपडा बनाने के लिए मिट्टी और घड़ा बनाने के लिए सूत काम में लाया जाय तो कार्य सिद्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार जब आत्मा का कल्याण करने का कार्य करना हो तो आत्मकल्याण-साधक सरलता को अपनाना चाहिये और पुद्गलों के प्रति निस्पृह बनना चाहिए तथा कपट का त्याग करना चाहिए। इसके विपरीत अगर यह भावना रही कि मैं किस प्रकार सुन्दर दिखाई दूँ, मैं धनिक कैसे बनूं, या ऐसी कोई और सांसारिक भावना रही और उस भावना को पूर्ण करने के लिए कपट का आश्रय लिया गया तो ऐसा करनेवाले को पुद्गलानंदी भले ही कहा जाय मगर आत्मकल्याण-साधक नहीं कहा जा सकता। ऐसा अतिशय लोलुप जीव सम्यक्त्व भी प्राप्त नही कर सकता और आत्मा का कल्याण किस प्रकार कर सकेगा ? अतएव जिस कार्य के लिये जो कारण हो उस कार्य के लिए वही कारण अपनाना चाहिए। आत्म-

कल्याण साधने के लिए जिन कारणों की आवश्यकता है, वे कारण हम लोगों को शुभ क्रिया के प्रताप से-सौभाग्य से-प्राप्त हैं। अतएव परमात्मा के साथ संबन्ध जोड़ने का जो साधन हमें प्राप्त है, उस साधन द्वारा आत्मकल्याण कर लेना चाहिए। आत्मकल्याण का सरल मार्ग है—सरलता धारण करना—कपट का त्याग करना।





चिम्मनसिंह लोढ़ा के प्रबन्ध से श्री महावीर प्रेस ब्यावर में
छपकर, तैयार हुई।